प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट,
दिल्ली

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९५६

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

अनुक्रमणिका

पुरुषोत्तम राम

: १ :

पुरुषोत्तम राम

यह त्रेता युग की वात है। कोशल नाम के देश की राजधानी अयोध्या में, इक्ष्वाकु वंश के राजा दशरथ राज्य करते थे। अयोध्या नगरी वहुत ही सुन्दर वनी हुई थी। वह धन और धान्य से पूर्ण थी। प्रजा हर प्रकार से सुखी थी, क्योकि महाराज दशरथ प्रजा की पालना और रक्षा अपनी सन्तान की भाति करते थे।

राजा की तीन रानियां थी। सवसे वड़ी कौशल्या थी, उससे छोटी सुमित्रा और सवसे छोटी कैकेयी थी। राजा अन्य सव प्रकार से सुखी थे, उन्हे एक ही चिन्ता थी कि राजवश को चलाने के लिए कोई सन्तान नही थी। आर्यजाति में पितृऋण को उतारने के लिए सन्तान का होना आवश्यक समझा जाता था। राजा ने अपने कुल-गुरु वसिष्ठ तथा अन्य अमात्यों से परामर्श किया तो उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के लिए अश्वमेघ यज्ञ करने की सलाह दी।

सरयू नदी के तट पर, महाराज दशरथ का अश्वमेध यज्ञ वडी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। यज्ञ के अन्त मे शुभ सन्देश के वाहक प्राजापत्य नर ने यज्ञमण्डल मे प्रकट होकर, चरु का पात्र दशरथ के हाथ में देते हुए सन्देश दिया कि "हे राजन्! तुम इस चरु को अपनी प्रिय पत्नियों में वांटकर पिला दो, तुम्हे अभीष्ट पुत्रो की प्राप्ति हो जायगी।" महाराज ने सिर झुकाकर पात्र को स्वीकार कर लिया और यज्ञ पूर्ण होने के अनन्तर अपनी रानियो मे वाट दिया।

यथासमय महाराज दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न और कैकेयी से भरत ने जन्म लिया। यो तो चारो भाई अत्यन्त सुन्दर, सुडौल और प्रतिभा-सम्पन्न थे, परन्तु उनमे से राम असाधारण गुणो के कारण तारो मे चन्द्रमा के समान अधिक शोभायमान होते थे। बचपन से ही चारो भाइयो का परस्पर प्रेम असाधारण था। उसमे भी इतनी विशेष बात थी कि लक्ष्मण की राम के प्रति, और शत्रुघ्न की भरत के प्रति अधिक भक्ति थी। राजलक्षणो से सम्पन्न चारो पुत्रो को देखकर दशरथ का हृदय प्रफुल्ल रहने लगा। उसने विद्वान् और तपस्वी गुरुजनो की सहायता से राजकुमारो की शिक्षा की व्यवस्था की, जिसका फल यह हुआ कि छोटी ही आयु मे वे शस्त्रो और शास्त्रो की विद्या मे निपुण हो गये।

प्रसिद्ध तेजस्वी ऋषि विश्वामित्र अपने आश्रम मे एक महान् यज्ञ कर रहे थे। राक्षस लोग उस यज्ञ मे विघ्न डालते थे। कभी छापा मारकर यज्ञ की सामग्री उठा ले जाते तो कभी यज्ञभूमि मे लहू-मास आदि बिखेरकर उसे भ्रष्ट कर देते थे। ऋषि विश्वा-मित्र यज्ञ की रक्षा के लिए सहायता मागने स्वय महाराज दश-रथ के दरबार मे उपस्थित हुए। महाराज ने ऋषि का वचन सुनकर निवेदन किया कि महर्षि, आपके यज्ञ की रक्षा करना मेरा धर्म है, मै आपके साथ सेना-सहित चलने को उद्यत हूँ। महर्षि ने उत्तर दिया कि मै तो यज्ञ की रक्षार्थ केवल राम को लेने आया हू, मुझे सेना आदि की आवश्यकता नही। ऋषि की आज्ञा को शिरोधार्य करके दशरथ ने राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा और राक्षसो के नाश के लिए उनके साथ भेज दिया।

मार्ग मे ऋषि ने कुमारो को अपने देश का प्राचीन इतिहास सुनाने के अतिरिक्त वला और अतिबला नाम की विद्याओं का उपदेश भी दिया। ऋषि के उपदेशो में कुमार ऐसे मग्न रहे कि उन्हे रास्ते के काटो और पत्थरो का अनुभव ही न हुआ और लम्बा मार्ग तय करके वे आश्रम के समीप पहुंच गये।

आश्रम के समीप जगल में ताड़का नाम की एक राक्षसी रहती थी। वह तपस्वियों को वहुत दु ख देती थी। ऋषि ने कुमारो को बतला दिया था कि यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उस क्रूर राक्षसी को मारना आवश्यक है। जंगल मे पहुचकर कुमारो ने धनुप की प्रत्यंचा पर टंकार की, जिसे सुनकर ताड़का वहा आ गई और कुमारो को मारने के लिए उनकी ओर भागी। उस समय राम ने प्रत्यचा पर तीर चढ़ाकर पूरे वल से ताड़का की छाती को निशाना बनाया। तीर छाती को वेधकर हृदय तक पहुच गया। ताड़का घोर आर्त्तनाद करती हुई पृथ्वी पर लोट गई।

उसके पश्चात् कुछ समय यज्ञ का कार्य शान्ति से चलता रहा, पर वह शान्ति अधिक समय तक न चली। ताड़का के पुत्र मारीच और सुवाहु नाम के दो घोर राक्षसों ने राक्षस-सेना के साथ यज्ञभूमि पर हमला कर दिया। राम भी सावधान थे। उनकी शरवर्षा के सामने राक्षस ठहर न सके और आंधी के सामने आये हुए भुस के ढेर की तरह शीघ्र ही विखर गये। राम ने मारीच के भारी शरीर को वायव्यास्त्र द्वारा उठाकर कोसो दूर फेक दिया, और अर्धचन्द्र तीर से सुवाहु का सिर काटकर राक्षसों के उस उत्पात का अन्त कर दिया।

यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति पर ऋषि विश्वामित्र और अन्य तपस्वियो ने दोनो कुमारो को भूरि-भूरि आशीर्वाद दिये। उन्ही दिनो ऋषि के पास मिथिला के राजा जनक की पुत्री सीता के स्वयवर का निमन्त्रण पहुचा। ऋषि ने उचित अवसर देखकर कुमारो को भी स्वयवर मे ले जाने का निश्चय किया और वे अनेक जगलो को पार करते, और आश्रमो मे विश्राम करते हुए ठीक स्वयवर के अवसर पर मिथिला जा पहुचे। राजा जनक ने स्वयवर की शर्त यह रखी थी कि जो क्षत्रिय शिवधनुष को उठा लेगा, सीता उसी का वरण करेगी। बडे-बडे यशस्वी क्षत्रिय उत्साह-पूर्वक आये, परन्तु उस धनुष को हिलाने मे भी सफल न हुए। जब ऋषि विश्वामित्र,राम को धनुष उठाने की आज्ञा देने लगे तो राजा जनक बहुत घबराये, क्योकि जहा वह राम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, और सोचने लगे कि क्यो न सीता का राम से ही विवाह कर दिया जाय, वहा राम की छोटी आयु और कोमल शरीर को देखकर उनका दिल कापता था। ऋषि ने राजा के सन्देह का निवारण करते हुए राम को धनुष उठाने की आज्ञा दी। राम ने न केवल धनुप को उठा लिया, वरन् उसकी प्रत्यचा को इस जोर से खीचा कि वह जगत्प्रसिद्ध शिवधनुष मानो घोर चीत्कार करता हुआ टूटकर दो टुकडो मे विभक्त हो गया। सीता ने आगे बढकर राम के गले में वरमाला डाल दी।

सब समाचार पाकर महाराज दशरथ बड़ी सजधज के साथ मिथिला पहुच गये, और धूमधाम से राम और सीता का विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के पश्चात्, वधू को लेकर बरात अयोध्या की ओर चली। उस समय एक अद्भुत घटना हो गई। क्षत्रियो के

प्रसिद्ध शत्रु मुनिवर परशुराम ने जब यह सुना कि एक क्षत्रिय ने शिवधनुष को भग कर दिया है, तो वह बहुत रुष्ट हुए और दशरथ की सेना का मार्ग रोक दिया। राम ने आगे बढकर प्रणाम किया तो परशुराम ने उन्हे बहुत कुछ भला-बुरा कहा और अपने हाथ का धनुष उन्हे देते हुए कहा कि तूने पुराने जर्जरित धनुष को भंग कर दिया तो क्या बहादुरी का काम किया। यदि सच्चा क्षत्रिय है तो मेरे इस धनुष को खीचकर दिखा। राम ने मुस्कराते हुए उस धनुष को हाथ मे ले लिया और उस पर प्रत्यचा चढा दी। इस पर परशुराम ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और युद्ध की इच्छा छोडकर तपस्या के लिए चल दिये।

राम अयोध्या मे पहुचे तो नगर-निवासियों ने उनका स्वागत किया। अयोध्या के और सारे राज्य के निवासी राम के गुणो पर मुग्ध थे। वह जितने तेजस्वी थे, उतने ही शात और दयालु थे। उनकी अन्तरात्मा जितनी महान् थी, शरीर भी उतना ही बलिष्ठ था। पुर और जनपद के निवासी उन्हे बहुत प्यार करते थे। सीतादेवी के आने से राम की शोभा दुगुनी हो गई, जैसे चादनी से चाद की शोभा मे वृद्धि होती है।

राजा दशरथ बूढे हो रहे थे। वह राम जैसे गुणी पुत्र को युवराज बनाकर स्वय रघुकुल की रीति के अनुसार शेष जीवन तपोभूमि मे व्यतीत करने की तैयारी करना चाहते थे। उन्होने इस विषय मे अपने मन्त्रियो और पुरवासियो से परामर्श लिया तो वे सब सहमत हो गये। तब देश की प्रचलित पद्धति के अनुसार निश्चय किया गया कि शुभ दिन और शुभ मुहूर्त मे राम को अयोध्या के

राज्य का उत्तराधिकारी युवराज नियत करने के लिये अभिषेकोत्सव का आयोजन किया जाय।

कुछ लोगो का स्वभाव होता है कि वे दूसरे के सुख को देखकर अकारण डाह करने लगते है। रानी कैकेयी की दासी मन्थरा ऐसी ही थी। जब उसने राम के अभिषेक का समाचार सुना तो मुह फुलाकर कैकेयी के पास पहुची और भडकाने के लिए तरह-तरह की बाते बनाने लगी। उन दिनो कुमार भरत और शत्रुघ्न कुछ समय के लिए अपनी ननिहाल गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति मे राजतिलक हो रहा है, इस बात को लेकर मन्थरा ने कैकेयी को क्रोध दिला दिया और समझा दिया कि जब राम राजा हो जायगा तो राजमाता होने से कौशल्या का गौरव बढ जायगा। कैकेयी मन्थरा की बातो मे आ गई और उसने महाराज दशरथ से वे दो वर मागे, जिन्हे देने का वचन महाराज ने कैकेयी से तब किया था, जब उसने सग्रामभूमि मे रथ के पहिये की कील निकल जाने पर, उसके स्थान पर अपनी अगुली डालकर महाराज की रक्षा की थी। वरो के रूप मे कैकेयी ने दो मागे की। पहली माग यह थी कि राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया जाय, और दूसरी माग यह थी कि भरत को राजगद्दी पर बिठाया जाय। महाराज इन वरो को सुनकर अधमुए से हो गये, परन्तु वचन का पालन करना क्षत्रिय का धर्म है, इस कारण इन्कार न कर सके। जब राम को अन्त पुर मे बुलाया गया, और कैकेयी ने उन्हे दोनो वर कह सुनाये, तो राम ने किसी प्रकार का दु ख या क्रोध प्रकट नही किया, उन्होने शातभाव से कहा, बहुत अच्छा, मै महाराज की प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ जटा और वल्कल धारण कर, रहने के लिए

वन को चला जाऊंगा। मेरा राजतिलक न होगा और मुझे वन जाना होगा, मुझे इसका दु ख नही है, दु.ख केवल इतना है कि महाराज मुझसे बोलते क्यो नही ? हे माता, मै हर्षपूर्वक चला जाऊंगा। मुझे हर्ष है कि भरत राजा होगा। आप से यही प्रार्थना है कि आप मुझे आशीर्वाद दे और महाराज को आश्वासन दे।

राम, पिता और कैकेयी को प्रणाम करके माता कौशल्या और सीता से विदा लेने के लिए चलने लगे तो महाराज मूर्च्छित हो गये, परन्तु राम अपने निश्चय से विचलित न हुए। वाल्मीकीय रामायण मे लिखा है—

न वन गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥

अर्थात्, पृथ्वी के राज्य को छोड़कर, वन को जाने के समय भी उस असाधारण महापुरुष राम के चेहरे पर कोई विकार दिखाई नही दिया।

राम के लिए माता कौशल्या से वन जाने की छुट्टी पाना सहज नही था। माता का हृदय तो नही मानता था परन्तु धर्म की मर्यादा के सामने प्रेम ने भी सिर झुका दिया। माता ने छाती पर पत्थर रखकर राम को विदा दी। सीता से विदा नही मिली, वह पतिव्रता पति के साथ वन जाने को उद्यत हो गई। राम ने बहुत समझाया कि वनवास मुझे मिला है, तुम्हे नही, वन मे काटे भी है, और जगली जन्तु भी—परन्तु सीता ने एक न सुनी। उसने कहा—

यदि त्व प्रस्थितो दुर्ग वनमद्यैव राघव !
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्।

अर्थात् हे राघव, यदि तुमने दुर्गम वन को जाने का आज ही निर्णय किया है तो मै कुशो और कण्टको को पैरो से कुचलती हुई तुम्हारे आगे-आगे जाऊगी।

राम पतिव्रता के सच्चे प्रेम के आगे क्या कहते! परन्तु, लक्ष्मण को वरदान की कथा सुनकर बहुत क्रोध आया। वह तेजस्वी राजकुमार महाराज और कैकेयी के घोर अन्याय के सामने सिर झुकाने को तैयार नही था। राम ने जब उसे शात करते हुए धर्म की मर्यादा समझाई, तो वह भी बडे भाई के पीछे-पीछे वन जाने के लिए उद्यत हो गया।

वह दिन पूरा होने से पहले ही राम, सीता और लक्ष्मण मुनियो के योग्य वेष पहनकर अयोध्या से विदा हो गये। राम के स्नेह मे बधी हुई अयोध्या की प्रजा बहुत दूर तक उनके रथ के पीछे-पीछे गई, परन्तु अन्त मे प्रजाजनो को राम का अनुरोध स्वीकार करना पडा, और वे लोग आखो से आसुओ की धारा बहाते हुए राजधानी मे लौट आये।

जब राम, सीता और लक्ष्मण तपस्वियो का वेष धारण करके जगल मे चले गये, तब सुमन्त खाली रथ को लेकर अयोध्या लौट आया। सुमन्त और खाली रथ के लौटने पर महाराज के हृदय पर भारी आघात पहुचा, जिसने उनके जीवन का अन्त कर दिया। नगर भर मे घोर हाहाकार मच गया और कैकेयी तथा भरत को गालिया मिलने लगी। जो राजदूत भरत के पास भेजे गये, उन्होने राजधानी के सब समाचार न सुनाकर केवल शीघ्र चलने का सन्देश दिया। कापते हुए हृदयो से भरत और शत्रुघ्न जब अयोध्या मे पहुचे, और सारे समाचार सुने तो भरत को अपार दु ख हुआ।

पिता स्वर्गलोक सिधार गये, राम जैसे प्यारे भाई वन को चले गये, यह जानकर भरत शोक से बेचैन हो गया। उसने अपनी माता के कुटिल सकल्पो पर पानी फेरते हुए घोषणा की कि 'मै अयोध्या की राजगद्दी पर किसी दशा मे भी नही बैठूगा। गद्दी भाई राम की है, और उन्ही को मिलेगी।' यह घोषणा करके भरत मत्रियो, सवन्धियो और सेनाओ को साथ लेकर राम को जगल से लौटाने के लिए उस मार्ग पर चल पडे, जिससे राम, सीता और लक्ष्मण गये थे।

तब तक राम चित्रकूट जा पहुंचे थे। वे वहां फूस की कुटिया बनाकर तपस्वियो की भाति निवास कर रहे थे। जब भरत आश्रम मे पहुचे तो उन्होने देखा कि राम के सिर पर जटाये बंधी हुई हैं, शरीर काले हरिण के चर्म से ढका हुआ है, परन्तु उस वेष में से उनका ओज और तेज सूर्य की किरणों की तरह चारों ओर फैल रहा है। राम कुशा के आसन पर विराजमान थे, और उनके पास ही सीता और लक्ष्मण भी आसनों पर बैठे हुए थे।

राम भाई को गले लगाने के लिए खडे हो गये, परन्तु भरत भाई के चरणो पर गिरकर आसुओ की धारा बहाने लगे। राम के कुशल-प्रश्न करने पर भरत ने कहा कि अयोध्या मे राज्य आप ही करेंगे। मै सारी प्रजा की ओर से आपको वापिस लेने आया हूं। राम ने उत्तर दिया कि पिता की प्रतिज्ञा का पालन करना तुम्हारा और मेरा दोनो का कर्त्तव्य है। पिता ने तुम पर राज्य करने का बोझ डाला है, उसका पालन करो, और मुझे वन मे रहने की छुट्टी दी है, मै उसका पालन करता हूं। अधिक आग्रह करने पर राम ने भरत को समझाया —

'चादनी चाद को छोड़ दे, हिमालय हिम से शून्य हो जाय, या समुद्र अपनी सीमा का उल्लघन कर दे, पर मै पिता की आज्ञा को भग नही कर सकता।' अन्त मे भरत को राम के आदेश का पालन करना पडा। उसने राम की खडाऊ लेकर घोषणा की कि राज्य इन खडाऊ का रहेगा,मै तो केवल उनका प्रतिनिधि बनकर प्रजा का पालन करूगा।

भरत के अयोध्या लौट जाने पर राम को यह आशका हुई कि राजधानी के समीप रहने से कही प्रतिज्ञा-पालन मे विघ्न न आते रहे, इस कारण उन्होने दक्षिण की ओर जाने का निश्चय किया। मार्ग मे उन्हे कई ऋषियो के आश्रम मिले, और अनेक राक्षसो से वास्ता पडा। ऋषियो और ऋषिपत्नियो से उपदेश तथा आशीर्वाद लेते हुए और राक्षसो का सहार करते हुए वे पचवटी मे जा पहुचे। वह स्थान हर तरह से रमणीक था, स्वच्छ जलाशयो और फलदार वृक्षो के कारण अनुकूल जानकर उन्होने वही वनवास के वर्ष बिताने का निश्चय कर लिया। समीप ही गोदावरी नदी बहती थी, और कुछ दूरी पर पद्मिनी नाम की सरसी थी। लक्ष्मण ने जगल से लकडी, पत्ते और फूस इकट्ठे करके एक सुन्दर कुटिया तैयार कर दी, जिसमे रहकर तीनों तपस्वियो जैसा विशुद्ध और सन्तोषभरा जीवन व्यतीत करने लगे।

राम को वहा रहते दस से अधिक वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन लका के राजा रावण की बहिन शूर्पनखा घूमती-फिरती आश्रम के पास आ निकली। उसकी दृष्टि राम पर पडी, तो वह राक्षसी मोहित हो गई, और सीता के सामने ही राम से कहने लगी कि तुम मुझसे शादी कर लो, क्योकि मै अति सुन्दरी हू। सयमी

राम ने कामान्ध राक्षसी को समझाते हुए कहा कि हे बाले, मैं विवाहित हूं, दूसरा विवाह नही करना चाहता। फिर हंसकर कहा कि तू मेरे छोटे भाई से जाकर प्रार्थना कर। शूर्पनखा लक्ष्मण के पास गई तो उसने भी दुत्कार दिया। वह फिर राम के पास आई। उसकी यह दशा देखकर सीता को हंसी आ गई। इसपर क्रोध से पागल-सी होकर राक्षसी सीता की ओर यह कहती हुई झपटी कि "तू हरिणी होकर व्याघ्री का मजाक उड़ाती है, तो इसका फल पा।" उस समय उसने जो भयानक शब्द किया, उसे सुनकर लक्ष्मण अपनी कुटिया से भागकर आये तो देखा कि शूर्पनखा सीता पर आक्रमण करना चाहती है। इस पर तेजस्वी लक्ष्मण ने तलवार निकाल कर शूर्पनखा के कान और नाक काट दिये।

रोती-चिल्लाती और धमकिया देती हुई शूर्पनखा फरियाद लेकर जनस्थान मे पहुची, और खर, दूषण तथा उनके सहस्रों अनुयायियों को अपने कटे हुए कान-नाक दिखाकर युद्ध के लिए उत्तेजित किया।

सहस्रो राक्षसों की सेना ने खर और दूषण के नेतृत्व मे राम के आश्रम पर आक्रमण कर दिया। राम ने सीता की रक्षा का बोझ लक्ष्मण पर डालकर स्वयं अकले राक्षसो का संहार करने का सकल्प कर लिया। राक्षस उमड-उमड़कर आगे बढते थे, परन्तु रामबाणो के ग्रास बन जाते थे। खर, दूषण और त्रिशिरा बारी-बारी से आगे आये, और धराशायी हो गये। थोडे ही समय मे वह सहस्रों राक्षसो की सेना धूप मे बर्फ की भाति पिघल गई, और सारा जंगल राक्षसों के कबन्धों से भर गया।

निराश होकर शूर्पनखा अपने भाई रावण के समीप पहुचकर रोई। उसने रावण को धिक्कारते हुए कहा कि जिसकी बहिन का साधारण मानव द्वारा ऐसा घोर अपमान हुआ है, वह यदि उसका पूरा वदला न ले तो उसे शतश धिक्कार है। रावण पहले से ही इस बात पर जला-भुना वैठा था कि सीता ने उसे छोड़कर राम को क्यो वर लिया। वह भी शिवधनुष को उठाने गया था, परन्तु सफल नही हो सका था। अव उसकी वासना की आग मे घी की एक और आहुति पड गयी, और उसने सीता का हरण करके राम से वदला लेने का निश्चय कर लिया।

वदला लेने की योजना मे रावण ने मारीच को साझीदार वनाया। मारीच सोने के हरिण का रूपरग बनाकर राम के आश्रम के सामने ऐसे ढग से घूमने लगा कि उस पर सीता की दृष्टि पड जाय। सीता ने जव वन मे सोने के मृग को उछलते-कूदते देखा तो वह राम से उसे पकड लाने का आग्रह करने लगी। राम सीता के आग्रह को न टाल सके, और मृग की ओर चल दिये। मृग छलाग मारकर जगल मे घुस गया, इसपर राम ने भी उसका पीछा किया। पीछा करते-करते वह बहुत दूर निकल गये, परन्तु मृग हाथ न आया, तव उन्होने उसे लक्ष्य करके वाण छोड।। बाण लगने पर मृत्यु निकट आई जानकर मारीच ने सीता को धोखा देने के लिए अन्तिम चाल चली। वह जोर से चिल्लाया—'हा सीते, हा लक्ष्मण' मारीच की आवाज सुनकर सीता घबरा गई, और बहुत हठ करके लक्ष्मण को राम को खोजने के लिए भेज दिया। रावण तो इस अवसर की तलाश मे ही था। वह परिव्राजक के रूप मे भिक्षा मागने के वहाने आश्रम के द्वार पर पहुचकर, सीता के सामने जा

खड़ा हुआ। सीता एक मान्य अतिथि को आया देखकर आदर-सत्कार करने मे लग गई। बैठने को आसन दिया, और चरण धोने को जल। रावण ने उचित अवसर देखकर सीता को बलपूर्वक उठा लिया और आश्रम से दूर खडे रथ पर चढाकर दक्षिण की ओर भाग निकला। सीता बेचारी बहुत रोई-चिल्लाई, परन्तु उसकी आवाज उस घने जगल के वृक्ष-वनस्पतियो से टकराकर रह गई, राम और लक्ष्मण तक न पहुची। रावण सीता को लिये हुए जगलो और पर्वतो को पार करता हुआ लका की ओर जा रहा था कि मार्ग मे एक पर्वत पर सीता को कुछ वानर लोग दिखाई दिये। यह सोचकर कि सम्भव है, इनसे किसी की राम से भेट हो जाय, सीता ने अपने उत्तरीय वस्त्र और कुछ आभूषण पृथ्वी पर फेंक दिये, जिन्हे उन लोगों ने उठा लिया।

राम और लक्ष्मण जब आश्रम मे वापिस आये तो उसे शून्य पाया। दोनो भाई इसपर बहुत चकित हुए और चारों ओर ढूढने लगे। जब ढूढने से भी कुछ पता न चला तो अत्यन्त दु:खी हृदयो से खोजने के लिए निकल पडे। कुछ दूर जाने पर उन्हे घायल पडा हुआ वीर जटायु मिला। उसने, सीता को बलपूर्वक ले जाते हुए रावण को पहले समझाया था और फिर उससे सीता को छीनने की चेष्टा की थी। इस संघर्ष मे रावण ने उसे घायल कर दिया था। उससे राम को यह सूचना मिल गई कि रावण सीता को दक्षिण की ओर ले गया है। फलत. दोनों भाई घने जगलो और दुर्गम पर्वतो को लाघते हुए, सीता की खोज में दक्षिण की ओर चल दिये।

मार्ग मे ऋष्यमूक पर्वत पडा। वहा वानर जाति का सुग्रीव

नाम का अग्रणी निवास करता था। सुग्रीव के मन्त्री हनुमान के प्रयत्न से राम और सुग्रीव म गहरी मैत्री हो गई। सुग्रीव भी दु खी था, क्योकि उसका राज्य और उसकी स्त्री तारा पर, उसके बडे भाई बाली ने अधिकार जमा लिया था। दोनो समान दु ख वालो मे परस्पर सहानुभूति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। फलत दोनो अत्यन्त गहरे मित्र वन गये, और एक दूसरे के सहायक बनने की प्रतिज्ञा मे आबद्ध हो गये।

राम ने बाली को मारकर सुग्रीव को उसका राज्य और स्त्री दोनों ही वापिस दिला दिये, इससे सन्तुष्ट होकर सुग्रीव नें अपनी सेना को सीता की खोज करने के लिए दिग्दिगन्तरो मे भेज दिया। जब उन्हे जटायु के भाई मारुति से यह समाचार मिला कि रावण सीता को लेकर अपनी राजधानी लका मे चला गया है तो उन्होने लका पहुचकर सीता की कुशल-क्षेम जानने का सकल्प किया। उस समय ऐसे साहसिक वीर की खोज होने लगी जो समुद्र को पार करके लका पहुचे और समाचार लेकर वापिस आ सके। सबकी दृष्टि महाबली ब्रह्मचारी हनुमान् पर पडी, जो सुग्रीव और राम दोनो का परमभक्त और विश्वासी सेवक था। हनुमान् ने वह दुष्कर कार्य अपने जिम्मे ले लिया। वह समुद्र को पार करके लका पहुचे, और अपनेको पहरेदारो से बचाते हुए उस अशोक-वाटिका मे घुस गये, जहा एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सती सीता राम का चिन्तन कर रही थी। वह चारो ओर से राक्षसियो से घिरी हुई थी। अवसर पाकर हनुमान् जानकी के सामने प्रकट हो गये और परिचय के लिये वह अगूठी पेश की, जो चलते हुए राम ने दे दी थी। 'उस समय वह अगूठी

ऐसी लग रही थी मानो पति का समाचार पाकर सीता की आखो से निकले हुए शीतल आसू ही स्थूल रूप मे आ गये हो। (रघुवश)

इस प्रकार अपने दूत-कार्य मे सफलता प्राप्त करके लौटने से पहले हनुमान् ने रावण को राम के एक सेवक की शक्ति की बानगी दिखाने के लिए, लका के उद्यान को नष्ट करना आरम्भ कर दिया। जब राजकुमार अक्षय उसे मारने आया तो स्वयं मारा गया। परन्तु अन्त में हनुमान् पकड़ लिया गया। रावण के दरबार मे पहुचकर फिर उसने अपने बल का पूरा परिचय दिया। उसने न केवल बन्दी बनाने वालो से अपने को छुडा लिया बल्कि रावण की सुनहली लका को भी फूककर राख कर दिया।

हनुमान् ने लका से लौटकर राम को सीता का सब वृत्तान्त सुनाया और वह आभूषण उनके सामने रखा जो पहचान के लिए सीता ने दिया था। वह आभूषण मानो सीता का अपने उद्धार के लिए राम को लंका मे निमत्रण था। राम सुग्रीव की सम्पूर्ण सेना को साथ लेकर समुद्रतट की ओर प्रस्थित हुए।

समुद्रतट पर राम को कुछ समय तक रुकना पडा। सेनाओ को लका तक पहुचाने के लिए पुल बाधना आवश्यक था। नल और नील नाम के दो प्रसिद्ध शिल्पियो के निर्देश के अनुसार कुछ ही दिनो मे वानर-सेना ने एक दृढ सेतु तैयार कर दिया। इसी बीच रावण का छोटा भाई विभीषण, अपने बड़े भाई की अधर्म से भरी हुई नीति से दु खी होकर राम की शरण मे आ गया। राम ने उसे अपनी सेना का अग बनाकर उदार-नीतिज्ञता का परिचय दिया।

अन्त मे वह दिन आ गया जब सारी वानर-सेना ने समुद्र को पार करके लंका को चारो ओर से घेर लिया। रावण यह सोचकर

कि समुद्र तो अलघ्य है, सुख की नीद सो रहा था कि उसे शत्रु-सेनाओ-द्वारा लका के घिरने का समाचार मिला। तब भी उसने किसी अनिष्ट की आशका नही की। उसे विश्वास था कि केवल मनुष्य और वानरो की सेना ससार-विजयी रावण का बाल भी बाका नही कर सकती। उसे भरोसा था कि उन्हे तो मै चुटकी मे पीस दूगा।

परन्तु उसे घोर निराशा का मुह देखना पडा। उसके सेना-पति वानर-सेना के नाश के लिए एक-एक करके काले बादलो की तरह गर्जते हुए निकले, और राम तथा लक्ष्मण के शस्त्रास्त्रो और हनुमान् तथा अन्य वानर सेनापतियो द्वारा सचालित वानर सेना के पराक्रम की आधी के सामने जाकर बिखर गये। जब शस्त्रो के युद्ध मे रावण के सेनापतियो को सफलता न मिली, तो उसने अपने पुत्र मेघनाद को मायामय अस्त्रो का प्रयोग करने की आज्ञा दी। मेघनाद ने पहला वार नागास्त्र द्वारा किया। उसके प्रभाव से पहले तो दोनों भाई मूच्छित हो गये, परन्तु गरुड़ास्त्र का प्रयोग होने पर नागास्त्र का प्रभाव जाता रहा। तब मेघनाद ने लक्ष्मण पर अमोघ शक्ति का ऐसा वार किया कि वह मूच्छित होकर गिर पडा। पहले तो राम और उनके सहायक बहुत घबरा गये, परन्तु जब वीर हनुमान् पर्वत पर जाकर सजीवन औषध ले आये, और उसके प्रयोग से लक्ष्मण स्वस्थ हो गये तो राघव की आशा फिर हरी हो गई। लक्ष्मण न केवल सचेत हो गये, उन्होने लका मे घुसकर मेघनाद का नाद भी समाप्त कर दिया।

मेघनाद के मर जाने पर रावण ने अपने विशालकाय भाई कुभकर्ण को नीद से जगाकर युद्धक्षेत्र मे भेजा। कुछ समय तक तो

उस ने वानरो का खूब संहार किया, परन्तु सायकाल से पहले ही सुग्रीव ने उस के कान-नाक काट दिये, और राम ने अपने अमोघ बाण द्वारा उसकी छाती बीध दी। कुभकर्ण चिघाड़ता और रक्त उगलता हुआ लड़खड़ाकर धरती पर गिर पडा और साथ ही रावण की आशाये भी मानो आकाश से उतर धरती पर आ गिरी।

तब तो अभिमानी रावण को अपने सिहासन से उतरकर युद्ध-क्षेत्र मे आना पडा। लका के द्वार पर रावण का जो भयकर युद्ध हुआ, वह अपूर्व था। कवि ने उसका वर्णन करते हुए कहा है—

राम रावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव ।

अर्थात्, राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध जैसा ही था, उसकी उपमा मिलनी कठिन है। शस्त्र के उत्तर मे शस्त्र, और अस्त्र के उत्तर मे अस्त्र ऐसे निकलते थे, मानो एक दूसरे से ही उत्पन्न होते है। जब राम और रावण का युद्ध गर्म हुआ तो सब राक्षस और वानर लड़ना छोडकर दर्शक बन गये। दर्शनाभिलाषी विमानचारियों से आकाश भर गया, और प्रकृति ने भी उत्सुकता में सास लेना छोड़ दिया। सारी सृष्टि धर्म और अधर्म के उस महान् सग्राम को देखने के लिए निस्तब्ध हो गई थी।

राम पैदल थे, रावण रथ पर आरूढ। इस असमानता को मिटाने के लिए स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपना साग्रामिक रथ राम के लिये भेज दिया। राम उसपर आरूढ होकर विश्वविजय का अभिमान करने वाले रावण के आक्रमण का समान ऊँचाई से उत्तर देने लगे।

प्रात.काल की लड़ाई में राम के सेनापतियो ने रावण के

बड़े-बडे सेनानायक मार दिये थे । इस पर रावण क्रोध से प्रज्व-लित होकर पूरे पराक्रम से लडने लगा । उसी समय विभीषण उसके सामने आ गया । विद्रोही भाई को देखकर रावण आपे से बाहर हो गया और उस पर प्रहार करने के लिए अमोघ शक्ति हाथ मे ली । लक्ष्मण पास ही था । विभीषण को मृत्यु से बचाने के लिए निर्भय वीर लक्ष्मण विभीषण के सामने आ गया और रावण पर बाण-वर्षा करने लगा । रावण का क्रोध विभीषण से हटकर लक्ष्मण पर बरस पडा, और उसने उस हाथ मे ली हुई अमोघ शक्ति का लक्ष्य लक्ष्मण को बना दिया । बली रावण के हाथ से फेंकी वह अमोघ शक्ति लक्ष्मण की छाती मे लगी, जिससे वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया । राम दूसरे स्थान पर लड रहे थे । जब उन्हे यह समाचार मिला तो वह रावण के सामने आ गये । लक्ष्मण को रक्त से लथपथ और मूर्च्छित देखकर दु खी तो बहुत हुए परतु घबराये नही । केवल एक क्षण के लिए मूर्च्छित भाई को गले से लगाया, और फिर धनुष हाथ मे लेकर सुग्रीव, हनूमान् आदि से कहा—

हे वानरश्रेष्ठो, तुम लोग लक्ष्मण को घेरकर सुरक्षित रखो, मै जिस पराक्रम के समय की चिरकाल से प्रतीक्षा कर रहा था, वह आ गया है । इस मुहूर्त, मै तुम सबके सामने दृढ प्रतिज्ञा करता हूं, कि आज या तो जगत् से रावण विदा हो जायेगा, या राम ।

राम ने यह घोषणा की और रावण पर शर-वर्षा आरम्भ कर दी । उन असह्य राम-बाणो के प्रहार से रावण ऐसा बौखलाया कि डरकर युद्धक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ ।

इधर सुषेण के सुझाने पर हनुमान् फिर पर्वत पर जाकर विशल्यकारिणी औषधि ले आया, जिसे सुघाने से लक्ष्मण की मूर्च्छा जाती रही, और वह उठ कर वडे भाई के गले लग गया।

तब तक रावण युद्धक्षेत्र मे फिर वापिस आ गया। राम और रावण का वह दूसरा द्वन्द्व युद्ध बहुत ही भयानक हुआ। दोनो वल-वान् थे, शस्त्र-अस्त्र विद्या के पारगत थे, और आज 'मारना है या मरना है' की प्रतिज्ञा करके युद्ध मे आये हुए थे। पहले तो रावण ने बहुत जोर बाधा, पर राम ने अपने बाणो से उसके अंग-अग को बीध डाला, तब स्वामी की शोचनीय दशा देखकर सारथि रावण के रथ को फिर युद्धक्षेत्र से हटा ले गया।

परन्तु रावण को चैन कहा! उसकी सेना के सर्वनाश का समय आ गया था। होश मे आकर रावण ने सारथि को आज्ञा दी कि फिर रथ को राम के सम्मुख ले चलो, आज उसे मारना ही होगा। रावण के सम्मुख आने पर, प्रतिज्ञा-पूर्ति का निश्चित अवसर आया जानकर, राम ने अपने अलौकिक तेज को पूर्णरूप से जाग्रत किया और लकापति पर ब्रह्मास्त्र का वार किया। राम के धनुष से निकला हुआ ब्रह्मास्त्र व्यर्थ कैसे जा सकता था! वह रावण की कवच से ढकी विशाल छाती को चीरता हुआ पृथ्वी में जा घुसा। यज्ञो का नाश करने वाले देव-शत्रु के धराशायी होने पर सारे ससार ने मानो सन्तोष की सास ली। धरती पर मगल-गीत गाये जाने लगे और आकाश से विमान-सचारियो ने पुष्पो की वर्षा की।

रावण का नाश हो जाने पर वीर हनुमान् अपने वहुत से सैनिको के साथ लका मे पहुच गया और अशोक-वाटिका में चिता-

मग्न जानकी को प्रणाम किया। राम ने लका का राजा विभीषण को बना दिया था। विभीपण की आज्ञा के अनुसार, सीता को बड़े आदर-सत्कार से सुन्दर पालकी मे बिठाकर राम के समीप पहुचाया गया। उस समय कुछ लोगो मे इस प्रकार की चर्चा होने लगी कि क्या राम इतने समय तक राक्षसो के घर मे रही हुई सीता को बिना किसी परीक्षा के ही घर मे रख लेंगे। इस पर राम ने अग्नि-परीक्षा द्वारा ससार को दिखा दिया कि सीता सर्वथा निष्कलक और पवित्र है, और सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण आदि के साथ पुष्पक-विमान पर आरूढ होकर अयोध्या की ओर प्रस्थान किया।

तपस्वी भरत, जो चौदह वर्षो से नन्दी ग्राम मे राम की पादुकाओं को सिहासन पर बिठाकर राज्यरूपी तपस्या कर रहा था, इस दिन की प्रतीक्षा मे ही था। उसने सबका हृदय से स्वागत किया, और राम का राज्य राम के चरणो मे रख दिया। चौदह वर्षो की घोर तपस्या के अनन्तर, और रावण जैसे दुर्दान्त राक्षस के नाश से अमर यश कमाकर सत्यवादी, धर्मनिष्ठ, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम अयोध्या-निवासियो के जय-जयकारो के मध्य राघवो के यशस्वी राज्य-सिहासन पर आरूढ हो गये।

योगेश्वर कृष्ण

योगेश्वर कृष्ण

द्वापर युग के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ में, आज से हजारो वर्ष पूर्व मथुरा मे कंस नाम का राजा राज्य करता था। वह वहुत ही क्रूर और अभिमानी शासक था। उसमे सवसे वडा दोष यह था कि वह अपने आपको सबसे बडा मानता था। यदि उसके सामने कोई ईश्वर की भी प्रशंसा करता, तो वह उसे अपनी निन्दा मानकर प्रशसा करने वाले को मृत्यु-दड दे देता था। भले और निरपराध व्यक्तियो को कारागार मे डाल देना, लूट लेना या मार देना तो उसका नित्य-कर्म सा वन गया था।

एक बार ससार का भ्रमण करते हुए नारद मुनि उसके दरबार में आ निकले। कंस ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया तो प्रसन्न होकर मुनि ने उन्हे बतलाया कि मैंने देवलोक मे सुना है कि तुम्हारी बहिन देवकी के आठवे गर्भ से जो बच्चा उत्पन्न होगा, वह तुम्हारी मृत्यु का कारण वनेगा। यह सूचना देकर मुनि तो चले गये, पर कस बडी चिन्ता मे पड़ गया। उसने उसी दिन से अपनी बहिन देवकी और उसके पति वसुदेव पर गुप्त परन्तु कड़ा पहरा बिठा दिया। पहरेदारो को यह आज्ञा दे दी गई कि जब देवकी के बच्चा हो तो उसी समय कंस को सूचित किया जाये। जब देवकी के बच्चा होता तो समाचार मिलने पर कस वहा पहुच कर नवजात बच्चे को शिला के ऊपर पटककर मार देता। इस प्रकार उसने देवकी के सात बच्चे मार डाले। जब आठवां वच्चा

होने का समय आया तो वसुदेव और देवकी ने निश्चय किया कि किसी न किसी विधि से उसकी रक्षा की जाय। आधी रात का समय था, और वाहर घोर अन्धकार छाया हुआ था। नवजात वच्चे को गोद मे छिपाकर वसुदेव पहरेदारो की आख बचाता हुआ महल से वाहर हो गया, और यमुना को पारकर गोकुल मे जा पहुचा। वहा गोप लोगो की वस्ती थी। गोपो के मुखिया नन्द के घर उसी रात एक कन्या उत्पन्न हुई थी। कन्या को पालने मे डालकर घर के सव लोग नन्द की स्त्री यशोदा की देखभाल मे लगे हुए थे। अच्छा अवसर देखकर वसुदेव ने अपने बालक को पालने मे डाल दिया, और कन्या को गोद मे लेकर प्रभात होने से पूर्व ही मथुरा वापिस आ गया। उसका विचार था कि कस जव देखेगा कि आठवा वच्चा कन्या है, तो दया करके उसे छोड देगा, क्योकि कन्या द्वारा राजा की मृत्यु कैसे सम्भव है ! परन्तु कस मे दया कहा ! उसे प्रात काल जव समाचार मिला कि देवकी ने वच्चे को जन्म दिया है, तो तुरन्त वहा पहुच गया और रोती-कलपती देवकी से कन्या को छीनकर शिला पर दे मारा, और अपनी मृत्यु की ओर से निश्चिन्त हो गया।

उधर, नन्द-परिवार के लोगो का जव पालने की ओर ध्यान गया तो देखा कि उसमे एक बहुत ही सुदर और स्वस्थ वालक चपल आखो से टक-टक निहार रहा है। उसका रग अलसी के फूल की तरह सावला था, उसमें अद्‌भुत लावण्य था, और आखो मे चमक थी। वह अपने नन्हे हाथो से पाव को पकडकर उसके अगूठे को मुह मे डालकर चूस रहा था। पहले उन्हे कुछ आश्चर्य हुआ क्योकि नन्द भी गोरा था, और यशोदा भी गोरी, उनका पहला

लडका बलराम भी गोरा था, इस नये वच्चे के सांवले रंग पर उन्हे अचम्भा हुआ परन्तु उसके लावण्य को और खिले हुए चेहरे को देखकर वे सब कुछ भूल गये, और बड़ी माया-ममता से उसके पालन-पोषण मे जुट गये। सावले रंग के कारण उस का नाम 'कृष्ण' रखा गया।

शिशु कृष्ण का वाल-जीवन अद्भुत था। एक ओर उसकी मोहनी मूरत पर व्रजवासी लट्टू थे तो दूसरी ओर उसके शारीरिक बल के चमत्कार देखकर चकित थे। एक दिन एक खड़ी हुई बैलगाडी की छाया मे, सोते हुए कृष्ण को छोड़कर यशोदा यमुना पर चली गई। बैलगाडी मे दूध रखने के मटके आदि भरे हुए थे। कृष्ण की नीद खुल गई, तो अपने को अकेला पाकर वह रोने और हाथ-पाव चलाने लगा। कृष्ण ने गाडी को पांव का ऐसा धक्का दिया, कि वह उलट गई। यशोदा आई तो देखा कि कृष्ण मुह मे अगूठा दिये टक-टक देख रहा है और गाड़ी उल्टी पडी है। उसने समझा कि कोई भारी उत्पात हो गया। चारो ओर पूछने लगी कि गाडी को किसने उलट दिया? नन्द आ गया, गाव के और भी वहुत-से गोप-गोपी इकट्ठे हो गये, तव पास खेलते हुए बच्चे ने वतलाया कि हमने अपनी आंखों से कृष्ण को पाव मारकर गाडी को उलटाते देखा है। व्रजवासी चकित रह गये।

कुछ दिनो के पश्चात् एक और ऐसी ही आश्चर्यजनक घटना हो गई। बलराम और कृष्ण दोनो ही वहुत चचल वच्चे थे। दिन भर खेलते हुए सारे व्रज मे घूमा करते और व्रजवासियो को कभी हसाते तो कभी रुलाते। जव लोग उनकी धूल से सनी सुन्दर

मूर्तियो को देखते तो प्रसन्न होते थे, और जब वे उनके घरो मे घुसकर तोड-फोड करते तब दुखी होकर शिकायत करने यशोदा के पास पहुचते। दोनो मे छोटा होता हुआ भी, शरारतो मे आगे कृष्ण ही था। गोपियो की नित्य की शिकायतो से तग आकर, एक दिन यशोदा ने कृष्ण की कमर मे रस्सी बाधी और रस्सी को ऊखल से बाध दिया। यशोदा कृष्ण को यह कहकर कि बहुत भागा-भागा फिरता है, अब तो जाके देख, काम-काज मे लग गई। थोडी देर मे दूर से दो वृक्षो के गिरने का शब्द सुनकर जो उधर देखा, तो गिरे हुए पेडो के पास ऊखल से बधे हुए कृष्ण को मुस्कराते हुए पाया। ब्रजवासी 'क्या हुआ, क्या हुआ' चिल्लाते हुए वहा एकत्र हो गये। पचायत के सामने यह प्रश्न रखा गया कि आधी नही चली, वर्षा नही हुई, और न बिजली ही गिरी है। कोई मस्त हाथी भी वहा नही आया तो ये दो विशाल वृक्ष कैसे गिर गये ? पूछताछ से अन्त मे यह निश्चय हुआ कि जब ऊखल को घसीटता हुआ कृष्ण दोनो पेडो के बीच मे से निकलने लगा तो ऊखल दोनो पेडो के बीच फस गया। कृष्ण ने जोर का जो झटका दिया तो दोनो पेड टूटकर गिर गये।

उन वृक्षो से ब्रजवासियो को बडा प्रेम था। उनके टूटने से वह बहुत दुखी हुए और इस अप्रिय कार्य के लिए यशोदा को कोसते हुए घरो को चले गये। यशोदा बेचारी परेशान थी। कृष्ण को नही रोकती, तो घर-घर से शिकायते आती, और रोकती थी तो भी उसके उत्पातो का शिकार बनती थी। उस चमत्कारी बेटे के लक्षणो को देखकर गद्‌गद् भी होती थी, दुखी भी। सूझता नही था कि क्या करे ! नन्द अपने दोनो पुत्रो के बल

को देखकर फूला नही समाता था।

गोकुल के समीप एक गहरा तालाब था। उसमे एक काला साप रहता था। उस भयंकर साप के डर से कोई प्राणी उस तालाव से पानी पीने तक नही जाता था। जब बालक कृष्ण उस तालाब और साप के किस्से किसी व्यक्ति से सुनता तो मन मे सोचता था कि क्यो न उस साप को मारकर सब को निर्भय कर दिया जाय। अन्त मे उसने स्वय इस पुण्य कार्य को पूरा करने का निश्चय किया, और एक दिन हाथ मे अपनी प्यारी वासुरी को लेकर तालाव मे छलाग लगा दी। कुछ बच्चे पास ही खेल रहे थे, उन्होने जब कृष्ण को तालाब मे कूदते देखा तो डरकर वस्ती की ओर भागे, और सारे व्रज मे समाचार सुना दिया। फिर क्या था! आगे-आगे नन्द-यशोदा और पीछे सैकडो ब्रजवासी कृष्ण के प्रेम से खिचे हुए तालाब पर इकट्ठे हो गये। कोई रो रहा था, तो कोई चिल्ला रहा था। वे कह रहे थे—

दिवस को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा।
विना वृषेण का गावो विना कृष्णेन को ब्रज.।

जैसे सूर्य के विना दिन, चन्द्र के विना रात, और वृष के विना गाये व्यर्थ है, ऐसे ही कृष्ण के विना ब्रज किस काम का!

सब लोग तो क्रन्दन करते रहे, बलराम साहस करके आगे बढ गया, और तालाब मे झांककर कृष्ण को देखा तो चकित रह गया। कृष्ण ने महासर्प के जल मे निकले हुए फन पर ऐसी गहरी चोटे की कि उसके मुह से रुधिर बहने लगा, और वह थोड़ा-सा छटपटा कर ठण्डा हो गया। ब्रजवासियों के हर्ष का पारावार न रहा। दोनो भाइयों को आगे करके सब ब्रजवासी गाते और

हर्ष से नाचते हुए ब्रज मे वापिस आ गये ।

कृष्ण के अद्‌भुत बल और पराक्रम की कथाये गोकुल से चलकर मथुरा और मथुरा से आगे बढकर चारो दिशाओ मे फैलने लगी । जब वे कथाये कस के कानो तक पहुची, तब उस पापी का मन काप उठा । उसे आशका होने लगी कि कही यही वह बालक तो नही है, जो नारद की भविष्यवाणी को पूरा करेगा । उसने उस उठते हुए प्राण-सकट को अकुर-रूप मे ही नष्ट करने का सकल्प कर लिया ।

घबराये हुए कस ने अक्रूर को बुलाकर आदेश दिया कि गोकुल मे जाकर कृष्ण और बलदेव को अपने साथ ले आओ । अक्रूर का हृदय सचमुच अक्रूर था, वह कृष्ण का अनिष्ट नही चाहता था, परन्तु स्वामी की आज्ञा का पालन करना धर्म है, इस विचार से अक्रूर रथ द्वारा सायकाल के समय ब्रज मे पहुच गया। वहा जाकर देखा तो गोदोहन के समय, गौओ के मध्य मे, बछडे की भाति प्रसन्न कृष्ण को खडे पाया । बाल-गोपाल की मधुर मूर्त्ति देखकर अक्रूर की आखो मे प्रेम के आँसू आ गये । उसे अपने पास बुलाकर अक्रूर ने प्यार किया, और उसे साथ लिये हुए नन्द के पास पहुच कर प्रणाम किया । अक्रूर ने बडी चतुराई से कृष्ण को मथुरा ले जाने का प्रस्ताव उपस्थित किया । उसने कृष्ण से कहा कि तुम्हारे माता-पिता (वसुदेव और देवकी) तुम्हारे वियोग से अत्यन्त दुखी है । रात-दिन तुम्हे देखने की इच्छा प्रकट करते है और आँसू बहाते है । मै तुम्हे लेने आया हू । तुम मेरे साथ चलकर उन्हे आश्वासन दो ।

कृष्ण को न भय था, न आशंका । वह अक्रूर के साथ जाने को

सहर्ष उद्यत हो गया। परन्तु सब ब्रज-वासी वैसे वीर नही थे। वे अकेले कृष्ण या बलराम और कृष्ण को मथुरा नही भेजना चाहते थे, इस कारण अगले दिन जब अक्रूर दोनो भाइयो को लेकर मथुरा को चला, तो सैकडो गोप नर-नारी पाथेय बाधकर साथ-साथ चल दिये। कस ने तो केवल दोनो भाइयो को बुलाया था, पर वहा तो सारा ब्रज ही उमड पडा। उनके यह चाल चलने पर कस को काफी क्रोध आया, पर करता भी क्या! निरपराध गोपाल-परिवारो को मथुरा मे प्रवेश करने से कैसे रोकता!

कस ने बलराम और कृष्ण को मथुरा मे इसलिए बुलाया था कि उन्हे मारकर अपने जीवन-संकट को जड से उखाड़ दे। इस उद्देश्य से उसने बहुत दृढ योजना बनाई थी। उसने यह बहाना बनाकर कि हमारे प्रिय सम्बन्धी गोकुल से आये है, एक विशाल सभा का आयोजन किया। यह घोषणा कि गई थी कि सभा में मल्ल-युद्ध तथा अन्य बल-प्रदर्शन होगे। उस मण्डप की बहुत बढिया सजावट की गई तथा बलराम और कृष्ण दोनो भाइयो को निमन्त्रित किया गया।

सभा मे आने पर, दोनो भाइयो के नाश के लिये कस ने कई उपाय किये थे। जब सभा-मण्डप राजवश के लोगों, सामन्तो और अन्य प्रतिष्ठित प्रजाजनो से भर गया, तब दोनो भाइयों को बुलवा भेजा गया। दोनो भाइयो के बल और सौदर्य की ख्याति मथुरा के घर-घर मे फैल चुकी थी। दोनो सिह-समान युवको के सभा की ओर जाने का समाचार पाकर नगर के मार्ग के दोनों ओर की अट्टालिकायें, देखने के लिये उत्सुक स्त्री-पुरुषो से भर गईं। दोनो भाई कस के अभिप्राय से अनभिज्ञ नही थे।

उन्हे अक्रूर से काफी पता चल चुका था। सब कुछ जानते हुए भी दोनो वीर मस्ती मे झूमते हुए, लोगो के नमस्कार का उत्तर देते, मुस्कराते हुए मण्डप के द्वार पर पहुच गये।

वहा कस का प्रसिद्ध हाथी कुवलयापीड आक्रमण करने के लिये खडा था। कस ने उसके महावत को गुप्त रूप से आज्ञा दे दी थी कि यदि उसका हाथी दोनो कुमारो को जान से मार डालेगा तो उसे खूब पारितोपिक, और यदि न मार सका तो हाथी और महावत दोनो को मृत्यु-दण्ड मिलेगा। बलराम और कृष्ण के समीप आने पर महावत से प्रेरणा पाकर दुष्ट हाथी मारने के लिए आगे की ओर लपका। कृष्ण ने क्षणभर मे ही सारी स्थिति को भाप लिया और कूदकर उसकी सूडको हाथो से पकडकर बगल मे दबा लिया और एक हाथ से उसके दान्तो के बीच मे शस्त्र से वार किया। कृष्ण के वज्र के समान बलिष्ठ हाथो से चोट खाया हुआ हाथी घोर चीत्कार करता हुआ भूमि पर बैठ गया। तब कृष्ण को उसे मारने का अच्छा अवसर मिल गया। उसके माथे पर अपना पैर रखकर और पूरे जोर से दोनो दान्तो को हाथो से खीचकर बाहर कर दिया, और उन्ही दातो से मार-मारकर कुवलयापीड की जान निकाल दी। आगे से कृष्ण ने मारा, और पीछे से बल-राम ने उसकी पूछ को पकडकर इस जोर से खीचा कि वह शरीर से अलग हो गई।

प्राण छोडते हुए हाथी का चीत्कार मण्डप के अन्दर कस के कानो तक पहुचा। उसका दिल तो दहल गया, परन्तु अभी उसके तरकस मे और तीर भी थे। वह उनके चलाने की तैयारी करने लगा।

दोनो भाई विजयी शेरो की तरह झूमते हुए मण्डप मे प्रविष्ट हुए तो कंस नें उनसे कहा कि तुम दोनो अपने बल के लिये बहुत प्रसिद्धि पा चुके हो। आज इस सभा के सामने हमारे पहलवानों के साथ तुम्हारा मल्लयुद्ध होगा। युद्ध मरणान्त हो सकता है। जो जीता रहेगा वही जीता हुआ समझा जायगा। कंस के चाणूर, मुष्टिक और शल-तोशल नामक मल्ल बहुत विशालकाय और नामी थे। सभा मे उपस्थित लोगो को कस का प्रस्ताव बहुत ही अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ परन्तु कृष्ण ने क्षण भर का भी विलम्ब न किया। हाथो से ताल दी और चाणूर से भिड गया। चाणूर सब पहलवानों का शिरोमणि था। कस आशा से, यादव भय से, और अन्य दर्शक आश्चर्य से बादल और बिजली के उस सघर्ष को देख रहे थे। कृष्ण कुछ समय तक चाणूर से खेलते रहे, फिर युद्ध को समाप्त करने का सकल्प कर उन्होने आगे बढकर चाणूर को दोनो हाथो मे थामकर उसकी छाती मे पाव की इस ज़ोर की ठोकर मारी, कि उसके आख, कान और नाक से रक्त की धारा बह निकली, और वह हाथी जैसा भारी व्यक्ति मिट्टी के ढेले की तरह रग-भूमि मे गिरकर मर गया।

चाणूर के मर जाने पर बलदेव मुष्टिक पर और कृष्ण तोशल पर टूट पडे और कस के देखते-देखते उन्हे हाथो से उठाकर और चारो ओर घुमाकर इस वेग से भूमि पर पटका कि उनकी हड्डिया चूर-चूर हो गईं।

इस प्रकार अपनी सब आशाओं पर पानी फिरा देखकर कंस कापने लगा,और वसुदेव और देवकी, जो कुछ समय पहले भय से काप रहे थे, आखो से आनन्द के अश्रु बरसाने लगे।

निराशा और भय से कापते हुए कस को और तो कुछ न सूझा, चिल्लाकर अपने अगरक्षको को आज्ञा दी कि मै इन उत्पाती ग्वालो को अपनी आखो के सामने नही देखना चाहता। निकाल दो इन सब को यहा से, और छीन लो इनकी सब गाये।

कस की इस खोखली आज्ञा को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुस्कराये, और पापी को एक क्षण का भी अवसर न देकर रग-भूमि से कूदे, और सिहासन पर बैठे हुए कस के लम्बे-लम्बे केशो को हाथो से पकडकर ऐसा झटका दिया कि वह बल का अभिमानी राजा लोथ की तरह लुढककर भूमि पर आ गिरा। तब कृष्ण ने केशो से घसीटते हुए उसे रगमच के कई चक्कर दिये,और अन्त मे अत्याचारी के रक्त और धूल से सने हुए शरीर को मच के मध्य मे फेक दिया।

अत्याचारी कस की मृत्यु के समाचार ने न केवल मथुरा मे अपितु सारे भारतवर्ष मे कृष्ण के यश को फैला दिया और शक्ति का सन्देश पहुचा दिया। योद्धाओ की प्रचलित पद्धति के अनुसार यह स्वाभाविक समझा गया कि कस की मृत्यु के कारण रिक्त हुए सिहासन पर विजयी कृष्ण आसीन हो। कस का पिता उग्रसेन आखो मे आसू लेकर कृष्ण के पास यह प्रार्थना लेकर आया कि 'हे वीर, आप अपने बाहुबल से जीते हुए मथुरा के राज्य का सुखपूर्वक उपभोग करो, मै तो केवल इतना चाहता हू कि मुझे अपने पुत्र की अन्तिम क्रिया करने का अवसर दे दिया जाय।' इस प्रार्थना का कृष्ण ने उग्रसेन को जो उत्तर दिया, वह स्वर्ण-अक्षरो मे लिखा जाने योग्य है। वह योगिराज कृष्ण के महान् जीवन की कुजी है। विद्वानो और नरेशो की भरी सभा मे कृष्ण ने उग्रसेन

को प्रेमपूर्वक उत्तर दिया—मैंने राज्य की इच्छा से कस को नही मारा। मैंने उसे लोक-हित के लिए, और क्षत्रिय के योग्य यश की प्राप्ति के लिये मारा है। कस कुल का कलक था। मैं तो पहले की तरह गोपालों के साथ, गौओ से घिरा हुआ, जंगलो मे सुख से विहार करूगा, जैसे मस्त हाथी आनन्दपूर्वक स्वाधीनता से वन मे विहार करता है। यादवो का राज्य तुम्ही को सौपता हू। तुम ही यदुवश के अग्रणी बनो।

इन शब्दो मे हम भगवद्गीता मे वर्णित निष्काम कर्म को केवल बीजरूप से नही, अपितु स्पष्ट व्यावहारिक रूप मे देखते हैं। कृष्ण ने कस का राज्य उसके पिता को सौप दिया और स्वयं गोपजनो के साथ गोकुल चले गये।

वहा जाकर दोनो भाइयो ने सागोपाग वेदो और शस्त्रास्त्र-विद्या की शिक्षा पूर्ण की। दोनो भाई कभी-कभी मथुरा भी जाते थे। मगध का राजा जरासध कस का साला लगता था। उसने जब सुना कि कृष्ण ने कस को मार दिया है तो उसने बदला लेने के लिए मथुरा पर चढाई कर दी। बलराम और कृष्ण को बल-प्रदर्शन का मानो मुहमागा अवसर मिला। बलराम अपना शस्त्र हल और कृष्ण शार्ङ्ग नाम का तेजस्वी धनुष लेकर युद्ध-भूमि में पहुंच गये। घमासान युद्ध होने लगा। अन्त मे जरासन्ध को पराजित होकर रणक्षेत्र से हट जाना पड़ा। वह अपनी घायल और हारी हुई सेना को घसीटता हुआ मगध देश को वापिस चला गया।

यहा से कृष्ण की लोकहित मे किये गये युद्धो की वह अद्भुत श्रृखला प्रारम्भ होती है, जिसने उन्हे जहा एक ओर असुरारि-

मुरारि आदि वीरता-सूचक नामो से प्रसिद्ध किया, वहां साथ ही योगेश्वर, भगवान् आदि आध्यात्मिक महत्त्व की सूचक उपाधियो का भी अधिकारी बना दिया। इस आशका से कि मथुरा के समीप रहने से कही राजनीतिक संघर्षो मे न फस जाना पडे, कृष्ण अपने युद्ध के साथियो को लेकर समुद्र के किनारे एक सुन्दर से द्वीप मे जा बसे, जहा अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रयोग कर उन्होने ससार को चकित करने वाली द्वारकापुरी का निर्माण किया। परन्तु वहा बैठकर ससार से निश्चिन्त नही हो गये। जहा से किसी दीन-दुखिया की पुकार पहुची, वहा कभी रथ पर आरूढ होकर, तो कभी पाव-प्यादे ही जा पहुचे, और कष्ट का निवारण किया। उनके दूत चारो दिशाओ मे घूमकर समाचार इकट्ठे करते रहते थे। देश के किसी भाग मे, कोई राजा या आततायी, सज्जनो को और प्रजा को कष्ट दे रहा है, यह सुनते ही कभी अकेले, और कभी सेना को साथ लेकर वहा चढ़ाई कर देते और अत्याचारी का सहार कर उसके किसी योग्य सम्बन्धी को राजगद्दी पर बिठा देते। उन्होने सैकडो आततायियो का सहार किया और बीसियो राजसिंहासन रिक्त किये, परंतु कभी किसीके राज्य अथवा वैभव का एक कण भी अपने पास नही रखा। कृष्ण का मुख्य शस्त्र सुदर्शन चक्र था, जिसका वार अचूक था। न जाने उस चक्र ने कितने दुर्दान्त अत्याचारियो के सिर धड से अलग किये थे। उसके कारण ही कृष्ण 'चक्री' और 'चक्रधर' कहलाते थे।

चक्रधर ने जिन आततायी शत्रुओ का सहार किया, उनकी सूची बहुत लम्बी है। शृगाल, कालयवन, रुक्मी, नरक, निकुम्भ, वज्रनाभ आदि प्रचण्ड असुरो तथा लोक-शत्रुओ का नाश करने

के अतिरिक्त बाणासुर जैसे बहुत-से अजेय समझे जाने वाले दैत्यो को परास्त करके उनके पर झाड़ दिये। वे केवल मनुष्यो के कष्टो का ही निवारण नही करते थे, वरन् प्राणिमात्र उनसे रक्षा पाते थे। एक बार तालाब मे नहाते हुए एक हाथी का पॉव ग्राह ने पकड़ लिया। इस पर हाथी चिल्लाया। उसकी चिल्लाहट दयावान् कृष्ण ने सुन ली। झटपट शरो द्वारा ग्राह को मारकर हाथी को छुडा दिया। ऐसे ही नि.स्वार्थ कार्यो के कारण कवि ने कहा है—

धर्म संरक्षणार्थाय प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिण।

'शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले भगवान् कृष्ण का संसार मे जन्म धर्म के संरक्षण के लिए ही हुआ था।' जिन दिनो कृष्ण द्वारका मे रहकर दुष्टो के संहार द्वारा सज्जनों को अभयदान दे रहे थे, उन दिनो इन्द्रप्रस्थ मे कुरुवश के पाण्डव राजा युधिष्ठिर राज्य कर रहे थे। कृष्ण का और पाडवो का पारिवारिक सबध बहुत पुराना था। पाडवो की माता कुन्ती यदुवंश के राजा शूर की कन्या थी। वह कृष्ण के पिता वसुदेव की बहिन थी। इस गहरे पारिवारिक सम्बन्ध के कारण पाॅचों पाण्डवों मे और कृष्ण में परस्पर स्वाभाविक प्रेम था। कृष्ण वडे पाण्डव युधिष्ठिर को उनकी आयु और धार्मिक वृत्तियो के कारण अपना बुजुर्ग और गुरु मानते थे, भीम और अर्जुन से बराबर के भाइयों का-सा व्यवहार करते थे और नकुल तथा सहदेव को अपना वयस्क मानते थे। पाण्डवो से धार्तराष्ट्रो के वैर-भाव के कारण पाण्डवो पर जब कभी आपत्ति आती थी, तब कृष्ण उसके निवारण के लिए पहुंच जाते थे। सब भाइयों से समान प्रेम होते हुए भी समान आयु और

गुणो के कारण कृष्ण का प्रेम अर्जुन से अधिक था। उन दोनो मे और सब भाइयो से भी अधिक गहरा बन्धुभाव था।

एक बार द्वारका के समीप, रैवतक पर्वत पर, वृष्कायन्धको का एक वड़ा उत्सव हुआ। उसमे दूर-दूर के स्नेही राजा और मित्र सम्मिलित हुए। अर्जुन भी कई दिनो तक वहाँ रहा। वहाँ रहते हुए उसका कृष्ण की बहिन सुभद्रा से परिचय हुआ। कृष्ण को उनके परस्पर प्रेम का पता चला तो उसने दोनो के विवाह की अनुमति दे दी। पहले तो कृष्ण के बडे भाई बलराम उस विवाह से सहमत नही होते थे, परन्तु अन्त मे कृष्ण ने समझा-बुझाकर उन्हे तथा कुल के अन्य वृद्धो को राजी कर लिया और राजकुल के योग्य धूमधाम से विवाह हो गया। इस विवाह-सम्बन्ध ने कृष्ण को पाण्डवो के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया।

महाराज युधिष्ठिर ने क्षत्रियो की प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। सफलतापूर्वक राजसूय यज्ञ करने वाला राजा 'चक्रवर्ती सम्राट्' पदवी का अधिकारी हो जाता था। सारे देश मे जो शासक सबसे अधिक प्रभावशाली हो, उसके चक्रवर्ती होने से यह लाभ था कि देश मे एक व्यवस्था चलती थी, और सामन्तो के परस्पर युद्ध शान्त हो जाते थे। युधिष्ठिर ने अपने संकल्प की पूर्ति के लिए प्रिय सम्बन्धी और सखा कृष्ण से परामर्श और सहायता मागी। कृष्ण ने प्रसन्नता से दोनो वस्तुएं दी, परामर्श भी दिया और सहायता भी। सबसे बड़ी सहायता यह की कि मथुरा के राजा जरासन्ध को सेनाओ के युद्ध के बिना ही, भीमसेन से मल्ल-युद्ध करवाकर समाप्त

करा दिया। जरासन्ध बहुत उद्भट और प्रतापी योद्धा था। उसके मर जाने पर निश्चिन्त होकर युधिष्ठिर के चारो भाई चारों दिशाओ को जीतने के लिए निकल पडे, और साम और दण्ड द्वारा विजयी होकर इन्द्रप्रस्थ मे वापिस आ गये। जीते हुए तथा मित्र राजाओ से जो धन-राशि कर या उपहार के रूप मे प्राप्त हुई, कोष मे उसके रखने के लिए स्थान नही था। अतिरिक्त राशि दरिद्रों और योग्य ब्राह्मणो मे बांट दी गयी।

धूमधाम से राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ। उसमे पृथ्वी भर से निमन्त्रित राजा और विद्वान् एकत्र हुए। हस्तिनापुर से द्रोण, कर्ण, दुर्योधन तथा उसके सब भाई भी आये थे। यज्ञ का अपूर्व समारोह हुआ, जिसके अन्त मे महाराज युधिष्ठिर ने इतना दान दिया कि कोष खाली हो गये। उस यज्ञ मे भीष्म पितामह के प्रस्ताव पर जब महाराज युधिष्ठिर सबसे पहले योगिराज कृष्ण का अर्चन करने लगे, तो ईर्ष्यालु शिशुपाल भड़क उठा और लगा कृष्ण को गालियां बकने। युधिष्ठिर ने शिशुपाल को शान्त करने का बहुत यत्न किया, अनुनय-विनय की, परन्तु उसने एक न मानी और अपशब्द बोलता ही गया। शिशुपाल कृष्ण का निकट सम्बन्धी था। इस कारण वे शिशुपाल के सौ तक अपराधो को क्षमा करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। जब गालियो की सख्या सौ से बढ़ गई तो पापी को दण्ड देने का समय आया जानकर कृष्ण ने सुदर्शन चक्र को हाथ मे लिया। शिशुपाल तब भी शान्त न हुआ, और अपशब्द कहता गया तो चक्रधर ने चक्र द्वारा शिशुपाल का सिर धड़ से अलग कर दिया। पापियो को कंपाता और सज्जनों को नि:शक करता हुआ शिशुपाल का कटा

हुआ शरीर भूमि पर गिर पड़ा । इस प्रकार समय आने पर भगवान् के हाथो एक और दुष्ट का संहार हो गया ।

राजसूय यज्ञ मे पाण्डवो की विभूति को देखकर धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के मन मे अत्यन्त ईर्ष्या उत्पन्न हुई । वह अपने निकट सबधियो का पुराना शत्रु था । उसने अपने मामा शकुनि की सहायता से और अपने अन्धे पिता की अनुमति से जुए का आयोजन किया, जिसमे युधिष्ठिर को हराकर उससे सारा राज-पाट छीन लिया । पाण्डवो को द्रौपदी सहित बारह वर्षो का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास प्राप्त हुआ । वे लोग धर्म की मर्यादा का पालन करने के लिए बड़े-बडे कष्टो को शान्तिपूर्वक सह लेते थे । पाण्डवो ने बारह वर्षो का वनवास भी पूरा कर लिया, और विराट्नगर में एक वर्ष का अज्ञातवास भी काट लिया । जब नियत अवधि की समाप्ति पर प्रकट होकर पाण्डवो ने अपना राज्य वापिस मागा तो दुर्योधन ने देने से साफ इन्कार करते हुए कहला भेजा कि तुम तो क्षत्रिय हो, आगे बढो, और पराक्रम से राज्य ले लो । मागने से राज्य नही मिला करते ।

महाराज युधिष्ठिर स्वभाव से शान्ति-प्रेमी थे । उन्हे युद्ध करना अच्छा नही लगा । उन्होने निश्चय किया कि दुर्योधन के पास शान्ति का और सुलह का सन्देशा लेकर ऐसे दूत को भेजा जाय जिसका सब लोग सम्मान करे, और दुर्योधन भी जिसकी बात को टालने का साहस न करे । योगेश्वर कृष्ण से बढ़कर प्रभावशाली और उपयुक्त दूत कौन मिलता ! युधिष्ठिर ने उनके हाथ सन्धि का जो सन्देश भेजा, वह बहुत नम्र और सौम्य था । उन्होने कहला भेजा कि हम पाच भाइयो को इन्द्रप्रस्थ, वृक्प्रस्थ

आदि केवल पाच नगर दे दो, शेष सारा साम्राज्य तुम अपने पास रख लो, हम उनमे ही निर्वाह कर लेंगे। दुर्योधन ने युधिष्ठिर की इस अद्‌भुत माग का जो उत्तर दिया, वह अभिमानी और अदूरदर्शी शासको की मनोवृत्ति का एक बढिया नमूना था। उसने उत्तर दिया—

सूच्यग्र नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !

अर्थात्, हे केशव, सूई की नोक से भूमि का जितना भाग वीन्धा जा सकता है, मै उतना भाग भी युद्ध के बिना देने को तैयार नही हू।

अपने प्राणो को सकट मे डालकर, युद्ध-सज्जा से उत्तेजित हस्तिनापुर मे पहुचकर, दुर्योधन जैसे दुरभिमानी और विवेकहीन राजा के दरबार मे सच्चा सन्देश पहुचाना बड़े बूते का काम था। कृष्ण जैसा निष्काम धर्म का पालन करने वाला आत्म-विश्वासी व्यक्ति ही उसे कर सकता था।

दुर्योधन ने अपना दुराग्रह नही छोडा और अन्त मे महाभारत का वह वीर-सहारकारी महायुद्ध होकर रहा, जो भविष्य मे आने वाले सर्वनाशकारी महायुद्धो के लिए एक खूनी दृष्टान्त स्थापित कर गया।

कृष्ण की शक्ति पर पाण्डवो और कौरवो दोनो को विश्वास था। दोनो उनके सम्बन्धी और आत्मीय थे। प्रश्न यह था कि वे किसका साथ देगे। धर्म पाण्डवो की ओर था, और अनधिकार-चेष्टा कौरवो की ओर। इस कारण कृष्ण ने बीच का रास्ता निकाल लिया। अपनी सेना तो कौरवो को दे दी और स्वय इस प्रतिज्ञा के साथ पाण्डवो की ओर चले गये कि शस्त्र ग्रहण करके

युद्ध न करेंगे, केवल अर्जुन के सारथि बनेंगे।

कुरुक्षेत्र के मैदान मे वह सहारकारी भयानक सग्राम १८ दिनो तक हुआ। दुर्योधन की ओर द्रोण, कर्ण और भीष्म जैसे महारथी थे तो पाण्डवो के पक्ष मे केवल शस्त्रहीन कृष्ण थे। दोनो ओर बहुत से सम्बन्धी और सहायक राजा, अपनी अक्षौहिणी सेनाओ को साथ लेकर युद्ध मे भाग लेने आये थे, परन्तु असली सघर्ष कर्ण और अर्जुन मे, और दुर्योधन और भीम मे था। दोनो टक्करे बराबर की थी। इन दोनो ही द्वन्द्व-युद्धो मे पाडवो को जो विजय प्राप्त हुई, उसका जितना श्रेय योद्धाओ को था, उससे अधिक श्रेय कृष्ण को था। पाण्डव अपनी आपत्तियो को समाप्त न कर सकते यदि कृष्ण की चमत्कारिणी प्रतिभा उनका साथ न देती। भगवान् कृष्ण ने भरसक यत्न किया कि युद्ध रुक जाय, परन्तु जब दुर्योधन के हठ ने युद्ध को अनिवार्य कर दिया तो कृष्ण ने धर्म की विजय और अधर्म की पराजय के लिए पूरी शक्ति लगा दी। युद्ध के आरम्भ मे ही भीष्म और द्रोण ने युधिष्ठिर को आश्वासन दे दिया था कि चाहे हम कितना ही अच्छा सग्राम करे, जीत तुम्हारी ही होगी।

यतो धर्मस्तत कृष्णो यत कृष्णस्ततो जय ।

अर्थात्, कृष्ण उस पक्ष मे होते है, जिधर धर्म हो, अतएव जिधर कृष्ण होगे, जीत उसी पक्ष की होगी।

युद्ध के आरम्भ मे मार-काट की भयानकता से घबराये हुए अर्जुन को उत्साहित करके कर्तव्यपालन मे लगाने के लिए योगेश्वर कृष्ण ने जो अमर उपदेश दिया था, उसे व्यास मुनि ने भगवद्गीता के रूप मे ग्रथित किया है। गीता मे उन सिद्धान्तो की

व्याख्या है, जिनके अनुसार स्वयं कृष्ण ने अपना परहितकारी जीवन व्यतीत किया। भगवान् ने गीता में योग और कर्म की जो दिव्य व्याख्या की है, वह सदा मनुष्य जाति के लिए पथ-प्रदर्शक का काम देगी।

: ३ :

महात्मा बुद्ध

पृथ्वी पर जितने मत प्रचलित है, उनमे से सबसे अधिक विस्तार बौद्ध मत का है। बौद्ध मत के अनुयायी छोटे-बडे अठारह देशो मे फैले हुए है, जिनमे चीन, जापान, बर्मा, कोरिया आदि देश तो मुख्य रूप से बौद्ध है। शेष देशो मे भी उनकी सख्या कम नही। विस्तार की दृष्टि से जिस मत का दूसरा नम्बर है, वह ईसाइयत है। मात्रा मे बौद्ध मत के माननेवाले ईसाइयत मे विश्वास रखने वालो से अत्यधिक नही, दुगने तो अवश्य है। बौद्ध मत इस समय एक अलग मजहब या सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हो रहा है, परन्तु वस्तुत वह आर्य-धर्म का ही एक अग था। उसके मौलिक सिद्धान्त, उसकी परिभाषाओ और प्रणाली आदि पर दृष्टि डाले तो इसमे सन्देह नही रहता कि वह आर्य-धर्म का ही एक सुधरा हुआ रूप था।

जिस बौद्ध मत ने मनुष्य जाति के इतने बडे भाग की आत्मा पर अपना अधिकार जमाया हुआ है, उसके आदि-गुरु गौतम बुद्ध का जन्म, शाक्य वंश की राजधानी कपिलवस्तु मे, ईसा से लगभग ५५० वर्ष पहले हुआ था। कपिलवस्तु, बनारस से उत्तर की ओर लगभग १३० मील की दूरी पर, रोहिणी नदी के तट पर वसा हुआ था। हिमालय के स्पर्श से शीतल पवन द्वारा रोमाचित उस

सुन्दर नगर मे शाक्य वश का राजा शुद्धोदन राज्य करता था। उसकी दो रानिया थी। दोनो परस्पर बहिने थी। बड़ी आयु तक उसके कोई सतान नही हुई। जब राजा वृद्धावस्था को छू रहा था, तब उसकी बडी रानी गर्भवती हुई। पुरानी प्रथा के अनुसार प्रसव के लिए रानी को मायके ले जाया जा रहा था कि मार्ग मे ही, लुम्बिनी के प्रसिद्ध उपवन मे प्रसव-पीडा आरम्भ हो गई और वही ससार को विशुद्ध जीवन और अहिसा का सन्देश देने वाले महात्मा बुद्ध ने जन्म लिया। पुत्र-जन्म के सातवें दिन उसकी माता मर गई, और शिशु के पालन-पोषण का बोझ छोटी रानी पर पडा। छोटी रानी ने अपनी बडी बहिन से मिली हुई धरोहर की बहुत प्रेम और आत्मीयता के साथ देखभाल की। बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया।

सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही एकान्तप्रिय और विचारशील बालक था। वह अन्य राजकुमारो की भाति आमोद-प्रमोद या शिकार आदि मे रस नही लेता था। कुछ प्रतिष्ठित नागरिक राजा शुद्धोदन के पास यह शिकायत लेकर पहुचे कि आपका कुमार राजवश के योग्य कार्यों से उदासीन रहता है। राजा को चिता हुई, उसने सिद्धार्थ की प्रवृत्तियो को बदलने के लिए शस्त्र-विद्या के विशाल साम्मुख्य की योजना की। सब लोगो को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि तलवार, बाण तथा अन्य शस्त्रो के प्रयोग मे सिद्धार्थ ने अपने सब प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त कर दिया।

राजा की एक चिन्ता तो दूर हो गई, परतु दूसरी चिन्ता बनी रही। दूसरी चिन्ता यह थी कि जो राजकुमार कुछ समय पीछे युवराज बनने वाला है, वह ससार से सर्वथा विरक्त और अलग-

अलग रहता है। राजा ने सिद्धार्थ को ससार के बन्धन मे बाधने के लिए उसका एक उच्चवश की राजकुमारी यशोधरा से विवाह कर दिया। परन्तु सिद्धार्थ की वैराग्य की ओर झुकी हुई अंतरात्मा को पत्नी का प्रेम भी ससार की ओर न ला सका। अन्दर की वेचैनी और जिज्ञासा बढती ही गई। यहा तक कि विवाह को हुए दस वर्ष व्यतीत हो गये और सिद्धार्थ की आयु उनतीस वर्ष की हो गई, तो भी वह परिवार मे ऐसे ही रहता था, जैसे जल मे कमलपत्र रहता है।

वह ज्यो-ज्यो ससार की दशा को देखता था, त्यों-त्यों उसका मन विरक्त होता जाता था। उसकी दृष्टि जिधर पडती थी, उधर व्याकुलता और दु ख के दृश्य दिखाई देते थे। उसने एक बूढे को लठिया लेकर जाते देखा, जिसकी कमर झुक गई थी, मुह मे दात नही थे, और शरीर हड्डियो का पिजरमात्र रह गया था। कुछ दिन पीछे उसने एक रोगी को देखा, जो असह्य वेदना से कराह रहा था। उसने तीसरा दृश्य मृतक की शव-यात्रा का देखा। वह जिन लोगो का निकटतम सम्बन्धी था, वही उसे कपड़ों मे वान्धकर और कन्धो पर उठाकर अतिम सस्कार के लिए ले जा रहे थे। इन तीनो दृश्यों ने सिद्धार्थ के कोमल हृदय पर वहुत गहरी चोट की और वह व्याकुल हो उठा। उस समय उसे एक शान्त मुखाकृति वाले योगी की मूर्ति दिखाई दी, जिसने उसके दु:खित हृदय को शान्ति का शीतल जल डालकर ढाढ़स दे दिया, मानो गहरे अन्धकार मे ज्ञान का दिया जलाकर ठीक रास्ता दिखा दिया हो।

जिस समय सिद्धार्थ का मन ऐसे वडे परिवर्तन के युग मे से

गुजर रहा था, उसे पुत्रोत्पन्न होने का समाचार प्राप्त हुआ। जातक ग्रन्थो मे लिखा है कि पुत्र होने का समाचार सुनकर सिद्धार्थ ने कहा था कि यह एक नया वन्धन पड गया, जो मुझे तोडना पडगा। अब तो सिद्धार्थ का मन ससार के भोगो से दूर भागकर अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए उतावला हो उठा, और वह रात्रि की निस्तब्धता मे, माता-पिता के स्नेह, पत्नी के प्रेम और पुत्र के वात्सल्य को तिलाजलि देकर घर से बाहर हो गया। कुछ दूर तक का मार्ग तो घोडे की पीठ पर तय किया, परन्तु फिर उसमे भी बन्धन का अश पाकर घोडे को सारथी के साथ कपिलवस्तु वापिस भेज दिया और स्वय फूलो की शय्या पर पला हुआ नव-युवक, अमृत की खोज के लिये, काटो और वन्य पशुओ से भरे हुए जगल के रास्ते से मगध की राजधानी राजगृह की ओर चल पडा।

राजगृह के पास के जगलो में आलग और उद्रक नाम के दो प्रसिद्ध तपस्वी रहते थे। सिद्धार्थ ने उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। उन्होने सिद्धार्थ को जहा एक ओर दार्शनिक विचारो से परिचित कराया, वहा साथ ही दु ख से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप करने का उपदेश किया। जिज्ञासु ने गुरु के उप-देश को सिर नवाकर स्वीकार किया और ऐसा कठिन शारीरिक तप आरम्भ कर दिया कि पुराने-पुराने तपस्वी भी आश्चर्य में पड गये। जिस स्थान पर सिद्धार्थ ने घोर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का यत्न किया, वह उरूवेल के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय के धर्माचार्य अपने शरीर को कष्ट देने का नाम ही तपस्या मानते थे। सिद्धार्थ ने अपने शरीर को भूख-प्यास और गर्मी-सर्दी के आक्रमणो के लिए खुला छोडकर इतना निर्बल कर दिया कि

अन्त में वह चलते-चलते मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

इस शारीरिक मूर्च्छा ने जिज्ञासु की मानसिक मूर्च्छा को तोड़ दिया। वह सचेत होकर सोचने लगा की यदि केवल शारीरिक तप मे दु:ख से मुक्त करने की शक्ति होती तो मुझे अब तक मुक्त हो जाना चाहिये था। इस विवेचन ने सिद्धार्थ को निश्चय करा दिया कि केवल शारीरिक तप आत्मतत्त्व की प्राप्ति का सही रास्ता नही है। तब सीधा रास्ता कौन सा है ? सिद्धार्थ का मन इस प्रश्न पर चिरकाल तक विचार करता रहा। जो सन्तोष घोर शारीरिक तप और शास्त्रो के श्रवण से नही मिला था, वह अब मनन और विचार से मिलने लगा। अन्तरात्मा मे विचार करने से सन्देह के बादल फटने लगे, और एक दिन, जब सिद्धार्थ, एक वट वृक्ष के नीचे बैठकर देर तक चिन्तन कर रहा था, उसने अनुभव किया कि "मैंने सत्य को जान लिया है, और मै 'बुद्ध' अर्थात् 'ज्ञानवान्' हो गया हूं।" उस क्षण से सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' हो गया। वह उस वृक्ष के नीचे से उठा और प्राप्त किये हुए सत्य को मनुष्य मात्र तक पहुचाने के लिए विद्वानो की नगरी काशी की ओर चल पड़ा।

जिस सत्य के ज्ञान ने सिद्धार्थ के मन को सन्तोष का सुख प्रदान किया, और जिसने उसे 'बुद्ध' पदवी के योग्य बनाया, वह सत्य क्या था ? वह कोई नया सत्य नही था। वह वही पुराना और विश्वव्यापी सत्य था, जिसे भारत के ऋषि लोग सदा से कहते आये थे। वह सत्य सैकड़ों रूढ़ियों और हजारो भ्रान्त विचारो से बुरी तरह ढक गया था। महात्मा बुद्ध ने अपनी प्रतिभा से सारा कूडा-करकट हटाकर सत्य

के असली रूप को स्वय देख लिया और वही रूप सभी को दिखा दिया। यही मनुष्यजाति का सब से बडा उपकार था।

महात्मा बुद्ध ने सत्य-ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर मनुष्यो को धर्म का स्वरूप बतलाया—पाप न करना, पुण्य सचय करना और अपने चित्त को शुद्ध रखना, यही धर्म का सार है। बुद्ध की मुख्य शिक्षाए ये है ·

(१) किसी की हिसा न करना
(२) किसी की निदा न करना
(३) अपने को सयम मे रखना
(४) परिमित भोजन करना
(५) अकेले शयन और आसन करना
(६) चित्त को सदा सत्कार्य मे लगाये रखना ।

प्रत्येक मनुष्य को जानने योग्य चार आर्य सत्य ये है—

(१) ससार मे दु ख की अधिकता है।

(२) दु ख का कारण विषयो की तृष्णा या वासना है।

(३) दु ख से मुक्ति पाने का उपाय यह नही कि शरीर को कष्ट दिये जाएँ, अपितु यह है कि तृष्णा का त्याग किया जाए ।

(४) दु ख से छूटने के लिए मनुष्य को जिस मार्ग पर चलना चाहिये, उसके आठ अग है —

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि या आत्मचिन्तन ।

यह था सम्यक् अर्थात् सच्चा और सरल, व्यावहारिक धर्म,

जिसका उपदेश देने के लिए महात्मा बुद्ध उस स्थान से, जो अब 'बुद्ध गया' के नाम से प्रसिद्ध है, बनारस को चले गये। बनारस के समीप उस स्थान पर, जहा अब सारनाथ का मन्दिर है, गौतम बुद्ध को उनके पुराने पाचो शिष्य मिले। पहले तो बुद्ध को देखकर उनके मन मे उदासीनता का भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे कि यह तपोभ्रष्ट व्यक्ति क्या धर्मोपदेश करेगा! परन्तु जब उनकी दृष्टि महात्मा के मुखमण्डल पर पड़ी तो उन पर जादू का-सा असर हुआ। प्रकृति ने गौतम को चक्रवर्तियों के लक्षणो से युक्त विशाल और सुन्दर मुखमण्डल दिया था। उन की आखो मे असाधारण शान्त तेज था। वे शिष्य गौतम बुद्ध के दिव्य चेहरे से ही बहुत प्रभावित हुए, और उन्होने जब लोकभाषा मे उनके शान्तिदायक उपदेश सुने तब तो उनके पूरे शिष्य बन गये। उस समय बुद्ध ने जो घोषणा की, उसका निम्नलिखित आशय था —

मै अब धर्मचक्र को प्रगति देने लगा हूं,
और इसी उद्देश्य से बनारस जा रहा हू।
जो अन्धकार मे पड़े है, मै उन्हे प्रकाश दूगा,
और उनके लिये अमृतत्व का द्वार खोलूगा।

सारनाथ से बुद्ध बनारस पहुचे और वहां मृगदाव नाम के स्थान पर निवास करते हुए उपदेश करते रहे। उनका व्यक्तित्व महान् और आकर्षक था। प्रचार के लिए वे विद्वानो की सस्कृत भाषा को छोड़कर सर्वसाधारण की लोकभाषा का प्रयोग करते थे। और जिस धर्म का वह उपदेश देते थे, वह प्रतिदिन के व्यवहार मे आने वाला, सरल, सच्चा मार्ग था, इस कारण उनके

शिष्यो की सख्या दिन-दूनी रात चौगुनी बढती गई। बोध-प्राप्ति के पाच मास की समाप्ति पर उनके पक्के अनुयायियो की सख्या इतनी हो गई कि उनमे से चुने हुए साठ शिष्यो को आचार्य ने प्रचार के लिए चारो दिशाओ मे भेज दिया।

इसके पश्चात् गौतम बुद्ध स्वय देशव्यापी प्रचार में लग गये। वे वर्ष मे आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करके उपदेश देने मे व्यतीत करते थे, और चौमासे के चार महीनो मे किसी एक स्थान पर ठहरकर साधना और प्रवचन द्वारा अपने शिष्यो की योग्यता बढाने का आयोजन करते थे।

जैसे पानी मे तेल के फैलने मे देर नही लगती, महात्मा बुद्ध का यश और प्रभाव थोड़े ही समय मे देश भर मे फैल गया। जब आप अपनी शिष्य-मण्डली के साथ मगध की राजधानी राजगृह मे पहुचे, तो वहा का प्रतापी राजा बिम्बिसार स्वागत के लिए नगर के बाहर आया, और आचार्य का उपदेश सुनकर तत्काल उनका शिष्य हो गया। इस प्रकार अनायास ही महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म को एक प्रभावशाली राजा का आश्रय मिल गया।

राजगृह की यात्रा के पश्चात् महात्मा बुद्ध के यश और उपदेश, दोनो का विस्तार बडी ही तीव्र गति से होने लगा। वे जहा जाते, वहा के धनी और निर्धन, सब उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए एकत्र होते। वे उस समय की लोकभाषा मे उपदेश देते थे। उनके दरबार मे ब्राह्मण या शूद्र, राजा या रक मे कोई भेद नही था। वह उन लोगो के घर पर जाकर उपदेश देने मे भी सकोच नही करते थे, जिन्हे समाज 'वेश्या'

या 'पतिता' कहता था। वे उनसे मिलते, उन्हे उपदेश देते, और उन्हे सन्मार्ग पर लाते थे। बुद्ध एक बार अपनी प्रचार-यात्रा के प्रसग मे कपिलवस्तु जा पहुचे। उनकी ख्याति वहां उनसे पहले ही पहुच चुकी थी। जब वे नगर के समीप पहुचे तो उनके पिता, चचा आदि सम्बन्धी अगुआनी के लिए नगर से बाहर आये और उन्हे आदरसहित ले गये। रात के समय आचार्य ने आश्रम में विश्राम किया और दूसरे दिन प्रात काल भिक्षा का पात्र हाथ मे लेकर शिष्योसमेत नगर मे भिक्षा मांगने के लिए निकल पड़े। जब यह समाचार शुद्धोदन को मिला, तो उसने आकर बुद्ध से कहा कि "आचार्य! आप हमे लज्जित क्यो करते है? आप भोजन की भिक्षा मागने क्यो जाते है?"

आचार्य ने उत्तर दिया, "महाराज, यह हमारे कुल की प्रथा है।"

पिता ने उत्तर दिया, "हम क्षत्रियो के प्रसिद्ध वश में उत्पन्न हुए है, हमारे किसी पूर्वज ने कभी भीख नही मागी।"

इस पर आचार्य ने कहा—

"आप और आपके सम्बन्धी राजाओ के कुल मे उत्पन्न होने का दावा कर सकते है, परन्तु मै तो बुद्धो के वंश मे उत्पन्न हुआ हू, और बुद्ध लोग सदा भिक्षा मांग कर ही भोजन करते रहे है।"

इस पर राजा मौन हो गये और भिक्षा के पात्र को पकड़कर आचार्य और उनके शिष्यो को अपने महल मे ले गये, जहां भिक्षा से उनके पात्र को भर दिया।

जब बुद्ध महल में गये, तो अन्य सभी सम्बन्धी उपस्थित थे, केवल उनकी पत्नी यशोधरा नही थी। घर के लोगो ने यशोधरा

से भी आचार्य के सामने जाकर नमस्कार करने की प्रेरणा की, परन्तु वह उद्यत नही हुई। यशोधरा ने कहा, "यदि उनकी दृष्टि मे मेरा कोई मूल्य है तो वे स्वय मेरे पास आयेंगे। मै यही उनका सत्कार भली प्रकार कर सकती हू।"

जब आचार्य को यशोधरा के सकल्प की सूचना मिली तो वे स्वय दर्शन देने के लिए अन्त पुर मे चले गये। उनकी तेज से देदीप्यमान मूर्ति को देखकर यशोधरा का मान लुप्त हो गया और वह उठकर आचार्य के चरणो मे गिर पडी। आचार्य ने उसे उठने को कहा और आश्वासन दिया कि जब हम अपने सघ मे स्त्रियो को प्रविष्ट करना प्रारम्भ करेंगे तब तुम्हे भी उसमें ले लेंगे। धीरे-धीरे राजकुल के अन्य व्यक्ति और स्वय आचार्य का पुत्र राहुल भी शिष्यवर्ग मे सम्मिलित हो गया।

गौतम बुद्ध ने लगभग चालीस वर्ष की आयु मे धर्मचक्र-प्रवर्तन प्रारम्भ किया था। वे चालीस वर्ष तक निरन्तर घूम कर अपना सन्देश मनुष्य जाति को सुनाते रहे। इसी बीच मे धर्म के सन्देश को चारो ओर फैलाने के लिए आपने भिक्षुओ के लिए सघ की स्थापना की। सघ के भिक्षुओ के लिए जो नियम बनाये गये, वे काफी कठोर थे। वे पीले वस्त्र धारण करते थे। उन्हे ब्रह्मचारी रहना पडता था, और शुद्ध, निर्दोष जीवन व्यतीत करते हुए भिक्षा द्वारा जीवन-यापन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। आचार्य ने भिक्षुओ को विनीत और सर्वत्यागी रहने का आदेश दिया था। जब किसी शिष्य को सघ मे प्रविष्ट किया जाता था तब उससे तीन प्रतिज्ञाए ली जाती थी।

बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि

मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाता हूं।

उपासको को जिन आठ नियमों का पालन करना पडता था वे निम्नलिखित थे. (१) हिंसा न करना। (२) दूसरे की वस्तु न लेना। (३) झूठ न बोलना। (४) मादक पदार्थों का सेवन न करना। (५) सदाचारी रहना। (६) रात्रि के समय दुष्पच भोजन न करना। (७) सुगन्धित मालाओं या तेलादि का प्रयोग न करना। (८) भूमि पर चटाई डालकर उस पर सोना।

ये नियम बहुत अशो मे योग के यम-नियमों के समान हैं।

इस प्रकार चालीस वर्ष तक सरल, व्यावहारिक धर्म का सन्देश मनुष्य जाति को सुना कर और उस सन्देश को संसार भर मे फैलाने के लिए दृढ संगठन को सुसज्जित करके चौरासी वर्ष की आयु मे कुशीनारा नगर के समीप, हिरण्यवती नदी के तट पर, एक विशाल शाल वृक्ष के नीचे शिष्यों को अन्तिम उपदेश देकर महात्मा बुद्ध ने प्राण विसर्जन कर दिये। उनके पश्चात् उनके योग्य अनुयायियों ने जिस तत्परता से उनका सन्देश संसार के कोने-कोने में पहुचाया, उसके लिए बौद्ध मत के वर्तमान विस्तार पर दृष्टि डालना ही पर्याप्त है।

महर्षि दयानन्द

: ४ :

महर्षि दयानन्द

अपने समय के महान् सुधारक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म विक्रम स० १८८१ मे सौराष्ट्र प्रदेश के टकारा नामक ग्राम मे हुआ था। उनका पहला नाम मूलशंकर था। मूल नक्षत्र मे उत्पन्न होने से सौराष्ट्र की प्रथा के अनुसार उनका नाम मूलशकर रखा गया, परन्तु घर मे उनका प्रचलित नाम दयाराम था। पूरा नाम सम्भवत मूलजी दयाराम रहा होगा। सन्यास लेने के समय स्वामी जी ने अपना नाम 'दयानन्द' रक्खा, ताकि बचपन के व्यावहारिक नाम की स्मृति जीवित रह सके।

मूलशकर के पिता का नाम कर्सनलाल जी त्रिवेदी था। वह मौर्वी राज्य की ओर से गाव के जमादार (तहसीलदार) थे। औदीच्य ब्राह्मण होने पर भी उनके घर पर भिक्षावृत्ति नही होती थी। वह शिव के उपासक थे।

बचपन मे मूलशकर की शिक्षा उसी प्रकार की हुई, जैसी एक ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए बालक की होनी चाहिये। सस्कृत का व्याकरण, रुद्राध्यायी, तथा यजुर्वेद सहिता का अध्ययन, उस समय एक ब्राह्मण के पुत्र का अपने कुल-क्रमागत धर्म का पालन करने के लिए आवश्यक समझा जाता था। उतनी शिक्षा मूलशकर ने तेरह वर्ष की अवस्था तक प्राप्त कर ली थी।

आयु का १३वा वर्ष समाप्ति पर था, जब १८९४ विक्रमी

के माघ मास की १४वी तिथि को मूलशकरके जीवन मे वह घटना घटित हुई, जिसने उसके जीवन का प्रवाह पलट दिया। प्रचलित रूढियो के कारण जो जीवन-प्रवाह नीचे की ओर जा रहा था, आत्म चेतना ने उसे मानो बलवान् धक्का देकर ऊपर की ओर गतिमान् कर दिया। शिवरात्रि के अवसर पर धर्मपरायण शिव-भक्त प्राय. दिन के समय उपवास करते है और रात्रि के पूर्वार्द्ध मे जागरण रखते है। गुरु और पिता की इच्छा थी कि बालक मूलशकर भी शिवरात्रि के व्रत का पूरी तरह पालन करे। माता उसके विरुद्ध थी, परन्तु माता की न चली, और मूलशकर को उपवास और जागरण की परीक्षा मे डाल दिया गया।

दिन तो बीत गया, परन्तु जब रात्रि का समय आया, और शैव लोग मन्दिर मे एकत्र होकर जागरण के लिये बैठे तो मूलशकर को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बडे धर्म-धुरन्धर लोग, जिनमे उनके पिता भी सम्मिलित थे, नीद को न रोक सके, और खुर्राटे भरने लगे। बालक मूलशकर मे बचपन से विश्वास और विचारो की दृढता के बीज विद्यमान थे। वह जिस दृढता से दिन भर भूखा रहा था, उसी दृढता से रात भर जागने के लिए बैठ गया।

भक्त लोगो के सो जाने पर मन्दिर मे निस्तब्धता छा गई, तो मन्दिर के कोने से एक चूहा निकला, और शिवलिग पर चढे हुए पदार्थो को काटने-कुतरने लगा। मूलशकर ने गुरुजी से सुन रखा था कि भगवान् शिव की शक्ति अपार है, उनके त्रिशूल से जगत कापता है, और जब वह क्रोध मे आते है तो त्रिलोकी का

सहार कर देते है। एक तुच्छ चूहे को उनकी मूर्ति पर नि शक चढते देखकर बालक के मन मे कारण जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई तो उसने अपने पिता को जगाया, और उनके सामने अपनी जिज्ञासा रखी। पिता ने बच्चे के प्रश्न को केवल बचपन और मूर्खता का परिणाम माना और उसे डांट-फटकार दिया। मूलशकर की वाणी चुप हो गई परन्तु मन चुप नही हुआ। उसमे सशय और जिज्ञासा का तूफान-सा उठने लगा। तूफान से बेचैन मन के साथ मूलशकर के लिए मन्दिर मे बैठना असम्भव हो गया, तो वह घर चला गया, और खाना खाकर सो गया।

उस रात की घटना के कारण मूलशकर के मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न हुई, वह वस्तुत. भावी तत्त्व-ज्ञान का बीज बन गई। वह बीज जब एकसार उपजाऊ भूमि मे पड गया, तो जीवन की प्रत्येक घटना उसके लिये जल का काम देने लगी। १६वर्ष की अवस्था मे जो घटना हुई, उसका वर्णन स्वामी जी ने अपने आत्म-चरित मे इस प्रकार किया है —

"मेरी १६ वर्ष की आयु के पीछे मेरी १४ वर्ष की वहन थी। उसे हैजा हुआ। एक रात्रि मे, जिस समय नाच हो रहा था, नौकर ने खबर दी कि उसे हैजा हुआ है। तब सब जन वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये। औषधि भी की तथापि चार घण्टे मे उसका शरीर छूट गया। जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम वार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ। सब लोग रोने लगे। मुझको रोना तो नही आया, परन्तु मेरे मन मे भय उत्पन्न हुआ कि देखो, ससार मे कुछ भी नही है। इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊगा। इसलिए

कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे जन्म-मरण-रूपी बन्धनो से छूटकर मुक्ति हो। यह विचार मन मे रखा। किसी से कुछ कहा नही।"

१९ वर्ष की आयु मे ऐसी ही दूसरी घटना हुई। उसका वर्णन भी स्वामी जी के अपने शब्दो मे सुनिये—

"इतने मे उन्नीस वर्ष की अवस्था हो गई। तब जो मुझसे अति प्रेम रखने वाले, बडे धर्मात्मा, विद्वान् मेरे चाचा थे उनको विषूचिका ने आ घेरा। मरते समय उन्होने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाडी देखने लगे। मै भी समीप ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आखो से अश्रु बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहा तक कि रोते-रोते मेरी आखे फूल गई। इतना रोना मुझे पूर्व कभी न आया था। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मै भी चाचाजी के सदृश एक दिन मरने वाला हू। उनकी मृत्यु से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि ससार मे कुछ भी नही। परन्तु यह बात माता-पिता से तो नही कही। अन्य मित्रो से कहा कि मेरा मन गृहस्थाश्रम नही करना चाहता। उन्होने माता-पिता से कहा। माता-पिता ने विचार किया कि इसका विवाह शीघ्र कर देना ठीक है। जब मुझे मालूम हुआ कि बीस वर्ष मे ही मेरा विवाह कर देंगे, तब मित्रो से कहा कि हमारे पिता तथा माता से कहो कि अभी मेरा विवाह न करे। फिर उन्होने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका।"

यह थी वह कारणो की शृखला, जिसने मूलशकर के हृदय मे आकर वैराग्य की भावना को उत्पन्न करके चरम सीमा तक पहुचा दिया। बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी जब माता-पिता विवाह करने

पर तुले रहे, तब मूलशंकर ने २२ वर्ष की अवस्था मे अपने जीवन-रूपी जहाज का लगर किनारे से खोल दिया, और जहाज को अथाह समुद्र मे छोड़ दिया । वह माता-पिता के प्रेम, सुरक्षा के बन्धनो को तोड़कर उस मार्ग की खोज मे चल दिये, जिस पर जाने से मनुष्य जरा-मरण के भय से मुक्त हो जाय।

घर से निकलकर जिज्ञासु युवक सुख की तलाश मे घूमने लगा। निरन्तर लगभग १५ वर्षो तक वह मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले गुरु को ढूढने के लिए कभी हिमालय की गुफाओ मे तो कभी वीहड़ जगलो मे, कभी मठों मे तो कभी तीर्थ-स्थानो मे भटकते रहा। इन यात्राओ मे ऐसा कोई शारीरिक कष्ट नही था, जो जिज्ञासु ने न उठाया हो। सर्दी, गर्मी, भूख, और प्यास, सभी प्रकार के कष्ट आये, परन्तु जिसके हृदय मे सच्ची जिज्ञासा की आग सुलग चुकी थी, उसे मार्गभ्रष्ट न कर सके। वह नाममात्र के योगियो के पास गया, तो उन्हे केवल ढोंगी पाया, और विद्वानों के पास पहुचा, तो उन्हे रूढि की पूजा मे लगा हुआ पाया। इसी ज्ञान-यात्रा मे, मूलशकर पहले एक ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर 'शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी' वना, और फिर नर्मदा के तट पर एक विद्वान् सन्यासी श्री पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास ग्रहण करके 'दयानन्द सरस्वती' यह यशस्वी नाम धारण किया।

सन्यास लेकर भी जिज्ञासु ने सच्चे गुरु की खोज जारी रखी। एक महन्त ने उन्हे एक वडी गद्दी का उत्तराधिकारी वनाना चाहा, स्वामी जी ने उसे कोरा जवाव दे दिया।

जब स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्य की खोज मे देश का भ्रमण कर रहे थे, उन्ही वर्षो मे भारत मे वह राजनीतिक तूफान आया,

जो सन् सत्तावन की क्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है। महर्षि ने अपने आत्म-चरित मे उन वर्षो की कोई चर्चा नही की। उनके ग्रन्थो और भाषणो के सावधानतापूर्वक अनुशीलन से प्रतीत होता है कि अपने देश की पराधीनता उनके हृदय मे शूल की भाति चुभ रही थी। यह मानने को जी नही चाहता कि देश मे बेलाग घूमते हुए स्वामी जी उस महती क्रान्ति से सर्वथा उदासीन रहे हो। सम्भवत उनके इस सबन्ध मे मौन का यही कारण हो कि वह देश की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियो मे क्रान्ति की घट-नाओ की चर्चा करना सामयिक न समझते हो।

आखिर पन्द्रह वर्ष की खोज समाप्त हुई, और जिज्ञासु दयानन्द, शिष्य बनकर, मथुरा मे दण्डी श्री विरजानन्दजी महाराज के चरणो मे उपस्थित हुए। दण्डी जी पाणिनीय व्या-करण और आर्षग्रन्थो के प्रकाण्ड पण्डित थे। वह सस्कृत व्याकरण के नवीन ग्रन्थो के विरोधी थे। स्वामी दयानन्द जी का मन भी नवीन ग्रन्थो से विमुख हो चुका था। गुरु को सच्छिष्य और शिष्य को सत् गुरु मिल गया, मानो प्यासे को कुआ मिल गया। स्वामी जी ने दण्डी जी के पास लगभग अढाई वर्ष तक विद्याध्ययन किया। इन वर्षो मे उन्होने गुरु-सेवा, ब्रह्मचर्य और परिश्रम द्वारा गुरु से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया। अध्ययन की समाप्ति पर, प्रचलित प्रथा के अनुसार, स्वामीजी गुरु-दक्षिणा के तौर पर कुछ लौग लेकर गुरु की सेवा मे उपस्थित हुए, और आशी-र्वाद मागा। इस पर दण्डी जी ने शिष्य से जो दक्षिणा मागी, वह शिष्य के भावी जीवन का निर्माण करने वाली तो थी ही, ससार के गुरुओ के लिये अनुसरणीय भी थी। दण्डी जी ने कहा—

"बेटा, जा लिखा-पढ़ा सफल कर। देश का सुधार और उपकार कर। सत्य शास्त्रो का उपकार करके मत-मतान्तर की अविद्या को मिटा, और वैदिक धर्म, जिसका लोप हो गया है, उसे फिर फैला।"

इस स्फूर्तिदायक सन्देश को लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरु के आश्रम से वैसाख, १९२० के अन्त मे विदा हुए और धर्मोपदेश का कार्य आरम्भ किया। आपके धर्मोपदेश के दो पहलू थे। एक मण्डनात्मक, जिसमे स्वामी जी वेदो के धर्म का प्रतिपादन करते थे और दूसरा खण्डनात्मक, जिसमे वह भारत और भारत के बाहर सब मतमतान्तरो और मजहवो में प्रारम्भ से वर्तमान या आगन्तुक भ्रम-मूलक विचारों और कुसस्कारो का खण्डन करते थे। उनके मूलभूत सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(१) ईश्वर एक और अमूर्त्त है। वह सब विद्याओ और उनसे जो पदार्थ जाने जाते है, उनका आदि कारण है।

(२) वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वे सत्य ज्ञान के आदि स्रोत है।

(३) सत्य को ग्रहण करने और असत्य का परित्याग करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये।

(४) समाज का सगठन गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के आधार पर होना चाहिये।

(५) व्यक्ति के जीवन की सफलता आश्रम-व्यवस्था के अगीकार करने से ही हो सकती है।

(६) परमात्मा की दृष्टि मे मनुष्यमात्र समान है। गुणों और कर्मो से उनमे भिन्नता आती है। वेदपर्यन्त विद्या प्राप्त करने,

परमात्मा की प्रार्थना-उपासना करने तथा अन्य मानवीय अधिकारो के उपभोग का मनुष्य मात्र को समान अधिकार है। इस कारण स्त्रियो को शिक्षा से वचित रखना या किन्ही जातियो को नीच, पतित या अछूत बतलाकर उनके मनुष्यता के अधिकार छीनना अधर्म है।

(७) बहुविवाह वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। बाल-विधवाओ का पुनर्विवाह हो जाना चाहिये। स्त्रियो को यज्ञादि शुभ कार्यो मे पुरुष का समान हिस्सेदार मानना चाहिये। सती-दाह की प्रथा अवैदिक है।

(८) रूढिवाद और 'बाबा वाक्य प्रमाण' सर्वथा अनार्य सिद्धान्त है। वेद के चार लक्षण है—श्रुति, स्मृति, सदाचार, और आत्मन प्रिय। अन्तिम निर्णय करने के लिये बुद्धि और तर्क का सहारा लेना आवश्यक है।

(९) स्वामीजी ने मूर्ति के रूप मे ईश्वर की पूजा के स्थान पर निराकार ईश्वर की उपासना, मृतको के श्राद्ध के स्थान पर जीवित माता-पिता और गुरुजनो की सेवा और कर्मविहीन सन्यास के स्थान पर ससार का उपकार करने वाले सन्यास का विधान किया।

(१०) बालको और बालिकाओ की शिक्षा के सम्बन्ध मे उनके सिद्धान्त थे (क) शिक्षणालयो मे प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के अनुसार व्यवस्था होनी चाहिये। (ख) बालको तथा बालिकाओ की शिक्षा पृथक्-पृथक् हो। (ग) धर्म तथा सस्कृति की शिक्षा देने के लिये आर्य ग्रथो का आश्रय लेना चाहिये तथा (घ) प्राचीन

वाङमय के साथ-साथ अर्वाचीन भाषाओं तथा विद्याओं की शिक्षा भी आवश्यक होनी चाहिये। यह स्वामी जी के मन्तव्यों के मुख्य-मुख्य अश है। उनके पूरे मन्तव्य आर्यसमाज के १० नियमों मे, और ५१ मन्तव्यामन्तव्यों मे समाविष्ट है।

जब गुरु से प्रेरणा पाकर स्वामी जी कार्य क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए तो वह केवल कौपीनधारी संन्यासी के रूप मे विचरते और व्याख्यान करते थे। स्वामीजी का शरीर विशाल और हृष्ट-पुष्ट था, चेहरा गौरवर्ण, तेजस्वी और सुन्दर था। उनके एक मिलने वाले ने कहा था कि उनके मुख का सौन्दर्य असाधारण रूप से आकर्षक था। वह दर्शक के मन मे आतक-भरा प्रेम उत्पन्न करता था। आपका स्वर सिह के समान गम्भीर और रौबीला था। जब आप व्याख्यान के आरम्भ मे ऊचे स्वर से वेद मन्त्रों का उच्चारण करते थे, तो श्रोता मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे।

मथुरा से सत्यप्रचार का सन्देश लेकर महर्षि आगरा पहुचे और वहा आर्य-धर्म के प्रचार का सूत्रपात किया। आगरा से धौलपुर, ग्वालियर आदि नगरों मे प्रचार कार्य करते हुए आप जयपुर पहुचे। वहा पहुचकर स्वामी जी ने मूर्त्ति-पूजा के खण्डन में व्याख्यान दिये तो कुछ पण्डितों ने वादविवाद करने का प्रयत्न किया। शास्त्रार्थ मे व्याकरण की चर्चा चल गई तो स्वामीजी ने पातजल महाभाष्य का प्रमाण देकर पण्डितो को निरुत्तर कर दिया। कुछ दिनो के पश्चात् आप अजमेर गये तो एक पादरी साहब शास्त्रार्थ के लिये उद्यत हुए। शास्त्रार्थ एक प्रकार की दिमागी कुश्ती है। उसमे जीतने के लिये बल भी चाहिये और प्रतिभा भी। स्वामी जी मे शारीरिक बल और बुद्धिबल के साथ

तीव्र प्रतिभा भी थी, जिसका एक बडा अग हाजिरजवाबी था। विशाल शरीर, ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता हुआ चेहरा, अद्भुत स्मृति और तर्क की शक्ति आदि जिन गुणो की सामने के वाद-विवाद मे जीतने के लिये आवश्यकता होती है, वे सभी स्वामी जी मे थे। उनके अतिरिक्त एक निराकार ईश्वर की सत्ता पर, और वेदो की सत्यता पर उनका ऐसा अटल विश्वास था कि शास्त्रार्थो के युद्ध-क्षेत्र मे वह अजेय-से हो गये।

इन प्रारम्भिक वर्षो मे स्वामी जी के सुधार-सम्बन्धी विचार पक रहे थे। इनमे पूर्णता और परिपक्वता तब आई, जब १९२३ विक्रमी के महाकुम्भ पर आप हरिद्वार गये। मध्यकाल से लेकर तबतक भारतीय धर्म की विशुद्ध गगा मे रूढियो और भ्रम-मूलक विचारो का जितना कूडा-करकट और मैल इकट्ठा हुआ था, कुम्भ का मेला मानो उसकी प्रदर्शिनी थी। उस प्रदर्शिनी को देखकर स्वामी जी के मन मे यह विचार दृढ हो गया कि जब तक धर्म के नाम पर होनेवाले अधार्मिक कार्यो का जोरदार खण्डन नही किया जायगा, तब तक भारत का कल्याण नही होगा। कुम्भ के अवसर पर, गगा की रेती मे स्वामी जी ने जो पाखण्ड-खण्डनी पताका फहराई, वह अगले १७ वर्षो मे वाणी और लेख द्वारा देश के कोने-कोने मे पहुचा दी गई।

१८६३ ई० से आरम्भ करके १८७५ ई० तक स्वामी जी के कार्य का प्रचार-युग समझना चाहिये। १८७५ मे बम्बई मे पहले आर्यसमाज की स्थापना करके महर्षि ने सगठन-युग का सूत्रपात कर दिया। प्रचार-युग मे दक्षिण के कुछ भागो को छोडकर शेष सारे देश मे कई दौरे लगाये। जहा जाते वहा एकेश्वरवाद,

वैदिक धर्म और समाज सुधार के मण्डन मे व्याख्यान करते, और साथ ही सुधार का रास्ता साँफ करने के लिये सभी मतों के उन विचारो को, जिन्हे वह भ्रममूलक मानते थे, कडे शब्दों मे खण्डन भी करते। इस दिशा मे वह ईसाई धर्म के सुधारक मार्टिन लूथर के समान थे।

वाचिक प्रचार के साथ उन्होने लैखिक प्रचार का कार्य भी निरन्तर जारी रखा। प्रचार के लिये जहा जाते, ग्रन्थ लिखने की सामग्री, और लेखको को साथ ले जाते थे। सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद-भाष्य तथा अन्य व्याकरण आदि के सब ग्रन्थ प्राय. प्रचार-यात्राओ मे ही लिखे या लिखाये गये।

खण्डनात्मक प्रचार के सिलसिले मे आपके कई बहुत प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुए। काशी का शास्त्रार्थ तो शकराचार्य और मण्डन-मिश्र के शास्त्रार्थ की भान्ति प्रसिद्ध हो गया है। अन्य मतो के आचार्यो से भी अनेक शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थो मे जीत-हार का निश्चय तो श्रोताओ की रुचि के अनुसार ही होता है, परन्तु इस मे सन्देह नही कि स्वामी जी का तेजस्वी व्यक्तित्व, अद्‌भुत पाण्डित्य और दृढ विश्वास के कारण प्रत्येक शास्त्रार्थ उनके सिद्धातो के प्रचार में सहायक ही होता गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि लगभग २० वर्षो के प्रचारमय जीवन मे उनका यश और प्रभाव न केवल भारत मे, अपितु भारत से बाहर भी फैल गया।

अपने सिद्धान्तो के प्रचार को स्थायी रूप देने के लिये १८७५ ई० मे जनवरी मास मे आपने बम्बई में प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। दो वर्ष बाद १८७७ मे लाहौर मे दूसरा आर्यसमाज

स्थापित हुआ, और उसके दस नियमो को अन्तिम रूप मे स्वीकार किया गया। आर्यसमाज के संगठन की सवसे बडी विशेषता यह थी कि वह सोलह आने प्रजातन्त्र के सिद्धातो पर आश्रित था। प्रत्येक व्यक्ति आर्यसमाज के नियमो पर हस्ताक्षर करके, और अपनी आमदनी का शताश चन्दे के रूप मे देकर आर्यसमाज का सभासद् वन सकता है, और प्रत्येक सभासद् उन सामयिक निर्वाचनो मे भाग ले सकता है, जो अधिकारियो के निर्वाचन के लिये किये जाते है।

१८८२ ई० मे जव स्वामी जी राजस्थान की रियासतो मे प्रचारार्थ भ्रमण कर रहे थे, तव आपके मन मे यह विचार उठा कि अपने वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थो के प्रकाशन की स्थिर व्यवस्था के लिये कोई ऐसी संस्था वनाई जाये, जिसका देश-विदेश मे प्रभाव हो। राजस्थान की उदयपुर, जोधपुर, शाहपुर, आदि अनेक रियासतो के शासक स्वामी जी के शिष्य बन गये। उनके साथ देश के न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे आदि अनेक प्रतिष्ठित महानुभावो को सम्मिलित करके २३ सदस्यो की परोपकारिणी सभा नाम की स्थिर सस्था बनाकर रजिस्ट्री करा दी, और उसे अपने ग्रन्थो के प्रकाशन के सब अधिकार दे दिये।

वाणी और लेख द्वारा प्रचार करने मे स्वामी जी ने महात्मा वुद्ध की भांति लोक-भाषा का उपयोग किया। वह जन्म से काठियावाड के थे। शिक्षा के सवन्ध मे विद्वानो की सदा यह रीति रही कि वे शास्त्रीय चर्चाओ मे संस्कृत भाषा का प्रयोग करने मे ही अपनी शोभा समझते थे। स्वामी जी ने गुजराती और सस्कृत दोनो को छोडकर अपना लैखिक तथा वाचिक प्रचार

देश मे सबसे अधिक समझी जाने वाली लोक-भाषा हिन्दी मे ही किया। स्वामी जी की असाधारण सफलता का यह एक मुख्य कारण था।

स्वामीजी के सुधार-कार्य की एक यह महत्वपूर्ण विशेषता थी कि वह आदि से अन्त तक देश-भक्ति से ओतप्रोत था। स्वामी जी ने अपने ग्रन्थो और भाषणो मे भारतवासियों को उनके यशस्वी इतिहास की याद दिलाकर आत्म-सम्मान से भरपूर कर दिया। साथ ही उन्होने स्थान-स्थान पर विदेशी राज्य और पराधीनता की बुराइया बतलाकर देशवासियों को प्रमाद छोडकर स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये सन्नद्ध हो जाने की प्रेरणा की। उन्होंने इण्डियन नैशनल काग्रेस की स्थापना से भी कई वर्ष पूर्व 'सत्यार्थप्रकाश' मे निम्नलिखित सत्य की घोषणा की थी—

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नही है।"

स्वामीजी ने अपने ग्रन्थो मे जिस चक्रवर्ती राज्य का स्वप्न लिया था, वह लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् स्वतत्र भारतीय गण-तन्त्र के रूप मे प्रादुर्भूत हो गया।

राजस्थान का दौरा करते हुए महर्षि जोधपुर पहुचे तो वहां के शासक महाराज यशवन्तसिंह और सर कर्नल प्रतापसिंह स्वामी जी के शिष्य बन गये और प्रतिदिन उपदेश सुनने लगे। राजवश के इस प्रकार सत्पथ पर चले जाने की आशंका से कुछ

स्वार्थी लोग बहुत झुझला उठे। महाराज की एक मुँहलगी वेश्या थी, एक दिन जब स्वामीजी राजमहल मे उपदेश देने गये तो वहा से वेश्या की डोली को निकलते देख लिया। उस दिन उपदेश मे आपने राजाओ की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहा कि अब तो सिह भी कुत्तो का अनुसरण करने लगे है। वेश्याए कुतियो के सदृश है, उनसे सम्बन्ध रखना कुत्तो का काम है। महाराज पर उपदेश का अच्छा असर पडा, परन्तु वह वेश्या, जिसका नाम मुन्नीजान था, रुष्ट हो गई। कुछ कट्टरपन्थी लोगो के साथ मिलकर उसने षड्यन्त्र बनाया, और स्वामीजी के रसोइये द्वारा दूध मे घोलकर पिसा हुआ काच पिला दिया। काच ने शरीर पर भयानक विष का असर किया, शरीर भर मे फोडे फूट उठे, जिससे दो मास तक पीडित रहकर ३० अक्तूबर, १८८३ ई० को साय-काल ६ बजे वर्तमान भारत के अग्रणी सुधारक महर्षि दयानन्द ने ईश्वर का स्मरण करते हुए ऐहिक शरीर का त्याग कर दिया। वह दीपावलि का पुण्य पर्व था। बाहर लाखो दीपो की दीप्ति जगमगा रही थी, और उस रोगीगृह मे एक कर्मयोगी की आत्मिक ज्योति प्रभु की अनन्त ज्योति मे विलीन हो रही थी।

निर्भय सुधारक का काम बहुत कठिन होता है। उसे दूसरो के दोषो का स्पष्ट शब्दो मे प्रदर्शन करके नासमझ जनो की क्रोध रूपी आग से खेलना पडता है। वह आग सुधारको को जलाती अवश्य है परन्तु जलाकर राख नही बनाती, कुन्दन बना देती है। नवीन भारत के अन्यतम निर्माता महर्षि दयानन्द उसी आग की चिता मे पडकर अमर पदवी को प्राप्त हो गये।

श्री गुरु नानकदेव जी

: ५ :

श्री गुरु नानकदेवजी

सिक्खधर्म के आदिगुरु श्री गुरु नानकदेवजी का जन्म कार्त्तिक कृष्ण पक्ष पूर्णिमा, संवत् १५२६ विक्रमी को पजाब के शेखूपुरा जिले के अन्तर्गत, तलवण्डी ग्राम में हुआ था। उनके पिता मेहता कालूचन्द वेदी तलवण्डी के हाकिम राय बुलार के मुख्य कर्मचारी थे। वेदीजी वाणिज्य-व्यवसाय भी करते थे। ग्राम मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। नानकदेवजी की माता का नाम तृप्तादेवी था।

कहा जाता है कि गुरु नानकदेवजी का बाल्यकाल असाधारण था। जन्म के समय साधारणतया बच्चे रोते है, वे बिल्कुल नही रोये। एक वर्ष भी पूर्ण नही हो पाया था कि आप चलने-फिरने लगे। छोटी आयु मे जब आप बच्चो के साथ खेलने जाते तब 'सत्य कर्त्तार' कहकर अभिवादन करते। अन्य बालक भी उनका अनुसरण करते। घर मे जो कुछ अपने निजी उपयोग के लिए मिलता उसे बाहर जाकर भिखमगो मे बॉट देते। उनकी इन असाधारण धार्मिक प्रवृत्तियों को देखकर कोई उन्हे सिद्ध पुरुष कहता तो कोई योगी।

आठ वर्ष की आयु मे नानकदेव को एक गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए भेजा गया तो आपने कहा, "यह विद्या पढने से क्या लाभ? मनुष्य को चाहिये कि वह उस विद्या को सीखे, जिसे प्राप्त करने पर कर्त्तार के दर्शन हो सके।"

नवे वर्ष मे आपको प० वृजनाथ के पास सस्कृत सीखने के लिए भेजा गया। पडितजी ने 'ओम्' लिखना सिखाया। शिष्य ने 'ओम्' का अर्थ जानना चाहा। गुरु ने प्रश्न का सही उत्तर देने के स्थान पर उनसे कहा कि, "तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है–'ओम्' का अर्थ तुम्हारी समझ मे नही आ सकता।" गुरु की ऐसी बात सुनकर ज्ञानी बालक नानकदेव बोले, "ओम् नाम ईश्वर का है।" पडित जी किशोर बालक की ऐसी अद्-भुत प्रतिभा देखकर दग रह गए।

ग्यारहवे वर्ष मे नानकदेवजी को फारसी पढने के लिए एक मौलवी साहब के पास भेजा गया। मौलवी साहब बच्चे को अक्षरो का अभ्यास कराये तो बच्चा उसमे से भी ईश्वर-भक्ति का आनन्द ले। जब मौलवी ने पढाया 'अलिफ' तो शिष्य ने कहा, "अलिफ से अल्लाह, सबका सिरजनहार।" इस प्रकार ज्यो-ज्यो आप बडे होते गए त्यो-त्यो आपके ज्ञान मे वृद्धि होती गई। सुप्त ज्ञान उद्‌बुद्ध हो उठा। उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजो से आपका दिल हटता गया। यहा तक कि जब उन्हे यज्ञोपवीत पहनाया जाने लगा तो उन्होने यह कहकर पहनने से साफ इन्कार कर दिया कि यह तागा तो टूटने वाला है, कच्चा है। मुझे इसकी आवश्यकता नही। मुझे तो ऐसा सूत्र चाहिये जो न कभी मैला हो और न टूटे। ऐसा सूत्र तो 'शान्ति' का सूत्र ही है, मुझे उसे प्राप्त करना है।

पुत्र की ऐसी अद्‌भुत प्रवृत्तियो को देखकर पिता को सन्देह होने लगा कि सम्भवत उसका दिमाग फिर गया है। उन्होने एक प्रवीण वैद्य को बुलाया। जब वैद्य ने नाड़ी देखना आरम्भ किया तो

भक्त बालक ने अपना हाथ खींचते हुए कहा, "भले आदमी, तू मेरा रोग नाड़ी मे ढूढ रहा है, पर वह नाड़ी मे नही, मेरे दिल मे है। मेरा दिल मेरे मालिक मे अटका हुआ है—तू उसकी क्या दवा कर सकता है ?"

जब वैद्य द्वारा कोई इलाज न हो सका तो पिता ने लड़के को व्यापार मे डालना चाहा। उन्होने नानकदेवजी को पचास रुपये दिये और कहा कि जाओ, कोई लाभप्रद सौदा कर लाओ। नानकदेवजी कुछ दूर गये तो देखा कि साधुओ की एक मंडली तीन दिन से प्रतीक्षा कर रही है कि कोई दानी आये तो उन्हे भोजन प्राप्त हो। नानकदेवजी से साधुओं का यह कष्ट देखा न गया और उन्होंने बाजार से ५०) रु० की खाद्य-सामग्री लेकर साधुओ के सम्मुख रख दी। तत्पश्चात् घर लौट आये। खाली हाथ घर लौटने पर पिता का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। किन्तु नानकदेव ने उन्हे शान्ति से समझाते हुए कहा कि आपने मुझे लाभप्रद सौदा करने को कहा था, सो मैं करके लाया हूं। भूखे साधुओ को अन्न देने से अधिक लाभप्रद और सच्चा सौदा और क्या हो सकता है !

जब तलवन्डी में नानकदेवजी के सांसारिक मार्ग पर जाने की कोई सूरत न दिखाई दी तो उनके माता-पिता ने उन्हे अपने दामाद दीवान जयराम के पास सुल्तानपुर (कपूरथला) भेज दिया। दीवान जयराम ने उन्हें सरकारी भण्डार मे नौकर करा दिया। वहा नानकदेवजी को कुछ कमाई होने लगी किन्तु रंग-ढग पूर्ववत् ही रहा। जो कुछ अर्जन करते, साधुओ सन्तों के अर्पण कर देते। सन् १४८८ मे १८ वर्ष की आयु मे आपका विवाह हो

गया। दो पुत्र-रत्न, श्रीचद और लक्ष्मीचन्द, क्रमश सन् १४९२ और सन् १४९७ मे हुए।

लगभग सत्तरह् वर्षो तक सरकारी नौकरी करने के पश्चात् नानकदेव जी के अन्तर से पुन. ईश्वर-भक्ति की ध्वनि प्रसारित होने लगी। आपने नवाब से नौकरी छोडने की बात कही। हिसाब-किताब करने के पश्चात् इनके आठ सौ रुपये लेने निकले जिन्हें इन्होने गरीब मनुष्यो को वितरित कर दिया। इस तरह् वह सासारिक मोह् का परित्याग कर, उस ज्ञान के प्रसार मे लग गए जो उन्हे अन्तरदृष्टि से प्राप्त हुआ था।

गुरु नानकदेवजी का सबसे पहला मन्तव्य था—ईश्वर-भक्ति। ओकार-कर्त्तार मे श्रद्धा और भक्ति को आप सबसे ऊँचा धर्म मानते थे।

आपका दूसरा मन्तव्य था, मनुष्यमात्र को समान दृष्टि से देखना, सबसे समान व्यवहार करना। आप हिन्दू-मुसलमान मे कोई भेद नही मानते थे। जो सच्चा और सदाचारी मनुष्य हो, वही आपको प्यारा था।

गुरु नानकदेवजी की प्रचार-शैली मे दो बडी विशेषताएँ थी—एक तो आप सर्वसाधारण की भाषा मे उपदेश करते थे। सर्वसाधारण के लिए उस समय सस्कृत जैसी कठिन थी, फारसी या साहित्यिक उर्दू भी वैसी ही कठिन थी। गुरु महाराज पजाब की लोकभाषा मे उपदेश देते थे। वह शिक्षित-अशिक्षित, अमीर और गरीब सभी की समझ मे आ जाता था।

दूसरी विशेषता यह् थी कि आप अपने उपदेशो को लोक-भाषा की कविता मे प्रकट करते थे। यह सर्वविदित ही है कि

सरल कविता सर्वसाधारण जनता पर अधिक असर उत्पन्न करती है। वह हृदय की सतह तक पहुच जाती है। गुरु महाराज का धर्मोपदेश तीव्र वेग से पंजाब के कोने-कोने मे प्रसारित हो गया।

गुरु नानकजी अपने भक्ति-धर्म का संदेश सुनाने के लिए पर्यटन करने लगे। उनके दो साथी थे। भाई बाला तब भी उनका सहयोगी था,जब वह सर्वथा विरक्त नही हुए थे। गांव का मीरासी मर्दाना गुरु जी के बनाये हुए गीत गा-गाकर जनता को उनका सदेश सुनाता था। धर्म-प्रचार के कार्य मे वह गुरु जी के साथ रहता था।

धर्म-प्रचार के साथ-साथ गुरुजी के शिष्यों की संख्या भी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढने लगी। साधारण जनता मे उनका व्यक्तित्व आदर्श समझा जाने लगा। धार्मिक गुरुओं के चारों ओर जैसे अद्भुत कथानक एकत्र हो जाया करते है, गुरु महाराज के जीवन के सबध मे भी वैसे ही अनेक चमत्कारपूर्ण कथानक है। एक कथानक उनमें से यह है—जब आप एमिनाबाद नाम के शहर मे पहुचे तो वहा के मलिक भागो की ओर से एक वृहद् ब्रह्मभोज हो रहा था। कुछ भक्तो ने गुरुजी से निवेदन किया कि आप भागो के मेहमान बने और उसके ब्रह्मभोज मे सम्मिलित हो। गुरु महाराज ने उनके परामर्श को न मानकर एक गरीब व्यक्ति लालो के घर में रूखा-सूखा भोजन करना पसंद किया। जब मलिक भागो ने इस बात की शिकायत की तो नानकदेवजी जी ने अपने एक हाथ मे लालो के घर की रूखी-सूखी रोटी का टुकडा लिया और दूसरे मे भागो के घर की मिठाई। तत्पश्चात् दोनों को निचोडा। लोगो को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि

लालो की मेहनत की कमाई के टुकडे से दूध की बूदे बरस रही है तो भागो की मिठाई मे से रक्त-धारा वह निकली है। बाबा ने यह दृश्य दिखाकर लोगो को समझाया कि जहा मेहनत और ईमानदारी की कमाई मे बरकत होती है, वहा प्रमाद और अत्याचार की कमाई का अन्त सर्वनाश मे होता है। हुआ भी ऐसा ही, कुछ ही दिनो के पश्चात् बादशाह बाबर ने एमिनाबाद पर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया।

आप दौरे के प्रसग मे दिल्ली पहुचे। उन दिनो वहा सिकदर लोदी राज्य करता था। वह बहुत ही कट्टर और धर्मान्ध शासक था। हिन्दुओ पर उसके भीषण और अमानुषिक अत्याचार इतिहास-प्रसिद्ध है ही। जब बादशाह को यह विदित हुआ कि हिन्दू धर्म का कोई आचार्य प्रचार करने आया है, तो उसने गुरु महाराज और उनके साथियो को कारागृह मे डलवा दिया। इसके आगे का कथानक इस प्रकार है—बादशाह की आज्ञा से गुरु महाराज को कारागृह मे बद कर दिया गया और तीन मन अनाज पीसने को दिया गया। मर्दाना भी जेल मे साथ ही था। वह तीन मन अनाज पीसने के नाम से बहुत घबराया। उसे आश्वासन देते हुए गुरु नानकदेवजी ने सब कैदियो से कहा कि चक्किया छोड-कर सो जाओ। जेल के अधिकारियो ने अगले दिन प्रात काल क्या देखा कि सबकी सब चक्किया अपने आप चलने लगी। जेल के अधिकारियो ने आश्चर्यचकित होकर यह समाचार बादशाह को सुनाया। बादशाह ने जब जेल मे जाकर स्वय नेत्रो से सारा दृश्य देखा तो वह गुरु महाराज के सम्मुख घुटने टेककर बैठ गया और उनसे क्षमा-याचना करने लगा। गुरु महाराज ने

उसे क्षमा करते हुए आदेश दिया कि सब कैदियो को छोड़ दिया जाय। वादशाह ने सव हिन्दू-मुसलमान कैदियो को मुक्त करते हुए वहुत-सी धनराशि गुरु महाराज को भेंट की, जिसे लेने से उन्होंने इन्कार कर दिया।

कुछ वर्षो के पश्चात् दिल्ली की गद्दी पर इब्राहीम लोदी आसीन हुआ। उसके शासन-काल मे भ्रमण करते हुए नानकदेव जी जब करनाल पहुँचे तो कुछ धर्मान्ध मौलवियो ने उसे भडका दिया। वादशाह के हुक्म से वावा नानकदेवजी को दूसरी वार दिल्ली की जेल मे बन्द कर दिया गया। अभी उन्हे जेल मे पहुचे थोडा ही समय हुआ था कि वावर ने इब्राहीम लोदी पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और स्वयं दिल्ली का अधिपति बन गया। वावर केवल महान् योद्धा ही नही था, वह महापुरुष भी था। वह सहृदय, उदार और गुणग्राही, था उसे जव मालूम हुआ कि एक पहुचा हुआ फकीर जेल मे वन्द है तो उसने उन्हे छोड़ने की आज्ञा दे दी।

दिल्ली से कराची होते हुए नानकदेवजी वलोचिस्तान गये। और वहा से हाजियो का वेष वनाकर 'मक्का' शरीफ पहुच गये। उस समय की भी एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। आप मक्का पहुचकर जब रात को सोये तो आपके पाव कावे की ओर थे जो मुसलमानो की दृष्टि मे कुफ्र था। जव प्रात काल एक मुसलमान ने देखा तो क्रोध मे आकर गुरुजी को ठोकर मारते हुए कहा—"अरे बेवकूफ, तू कौन है जो इस तरह खुदा के घर की ओर पैर पसारकर सो रहा है?" वावाजी ने जागकर वड़ी शान्ति से उत्तर दिया,"वावा, मै थककर सो गया था, यह ध्यान नही रहा

कि पैर किधर करूँ ? जिस दिशा मे खुदा का घर न हो वह बता दो, तो मै उधर पैर कर लू।" कहते है कि उस मुसलमान ने चारो ओर देखा तो उसे प्रतीत हुआ कि जिधर नानकदेवजी पैर करते है, उधर ही कावा दृष्टिगोचर होता है। इस पर यह समझकर कि यह कोई ऊचे दर्जे का फकीर है, मुसलमान चुप हो गया।

मक्का से आप मदीना गये। वहा के इमाम ने आपसे मिलकर कहा कि यह तो हम मानते है कि आप सिद्ध-पुरुष है, परन्तु यदि आप चाहते है कि सारा ससार आपका शिष्य बन जाय तो आप हजरत मुहम्मद और उसके चार मित्रो पर इमान लाये। गुरुजी ने इसका उत्तर दिया, "अग्नि, जल, मिट्टी और वायु ये चारो हमारे मित्र है और हमारी आत्मा हमारा पैगम्बर है। हमे ईश्वर तक पहुँचने के लिये और किसी की जरूरत नही।"

मदीने से गुरुजी बगदाद गये और वहा के सुल्तान से भेट की। सुल्तान पर आपके उपदेशो का ऐसा प्रभाव पडा कि उसने प्रजा पर अत्याचार करना छोडकर अपनी धन-दौलत गरीबो मे बांट दी। उसने एक ऐसा चोगा, जिस पर कुरान की आयते लिखी हुई थी, गुरुजी को भेट किया, जिसे आप अपने साथ अपने देश मे ले आये। यह चोगा अब तक डेरा वावा नानक के गुरुद्वारे में सुरक्षित रखा हुआ है। उसका नाम 'चोला साहब' है।

वगदाद से चलकर आप हिरात, वुखारा आदि होते हुए, कावुल के रास्ते से भारत मे वापिस आ गये। भारत के सीमा प्रदेश मे हसन अव्दाल नाम का एक स्थान था। वहा 'पजा साहव' के नाम से एक गुरुद्वारा वना हुआ है। उसके संवध मे एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। कहते है कि वहा यार अली नाम का

एक कन्धारी फकीर रहता था। उसके डेरे के समीप ठण्डे जल का एक स्रोत था। यार अली वहा से किसी को पानी नही लेने देता था। बाबाजी ने उसे कहला भेजा कि पानी खुदा का है, उसपर रुकावट नही डालनी चाहिये। फकीर ने बाबाजी की बात नही मानी तो क्या हुआ कि वह स्रोत अपनी जगह से हटकर पहाड़ की तलहटी मे, जहा बाबाजी ठहरे हुए थे चलने लगा। इस पर यार अली को बहुत क्रोध आया और उसने पहाड़ पर से एक बड़ी शिला लुढका दी कि बाबाजी उसके नीचे आकर मर जाये। जब शिला पास आई तो बाबा जी ने उसे अपने हाथ के पजे से रोक दिया। इसी कारण वह स्थान 'पजा साहब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लम्बी यात्राओं से देश मे वापिस आकर आपने कर्तारपुर नाम के नगर मे अपना निवास-स्थान बनाया। जीवन के अन्तिम वर्ष आपने वही बिताये। आपके सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अपने हजारो शिष्यो के पथ-प्रदर्शन के लिये उत्तराधिकारी किसे बनाया जाय तो आप पर सम्बन्धियो की ओर से यह जोर डाला गया कि दोनो पुत्रो मे से जो अधिक योग्य हो उसे उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाय। गुरु जी ने जब जाचकर देखा तो उन्हे उन दोनो मे से कोई भी गुरु बनने के योग्य दिखाई नही दिया। तब उन्होने प्रिय शिष्य अगद के उत्तराधिकारी होने की घोषणा कर दी। गुरु महाराज के इस चुनाव ने सिक्ख लोगो मे जनतन्त्र की भावना के बीज बो दिये। उन्होने धर्माचार्य की गद्दी को पैत्रिक सम्पत्ति न समझकर गुणो की देन समझा। १० आश्विन, सम्वत् १५९६ को पहर रात रहे गुरु

नानक देव जी ने ऐहिक शरीर के चोले का त्याग कर दिया '

जब से भारत पर मुसलमानो के आक्रमण आरम्भ हुए, तब से पजाब सग्राम का मैदान ही बना रहा। आक्रान्ताओ के भारत मे प्रवेश का वही द्वार था। शायद ही कोई दस साल ऐसे बीते हो, जिनमे विरोधी सेनाओ के सघर्ष के कारण उसकी बर्बादी न होती हो। परन्तु फिर भी पजाब के निवासी जीवित रहे। इसके दो मुख्य कारण थे, पाच नदियो की कृपा से अन्न की कमी नही होने पाती थी और स्वास्थ्यदायक जलवायु के कारण शरीरो मे चोटो के सहने की शक्ति थी। इसलिये जीवित तो रहे, परन्तु सास्कृतिक दृष्टि से पहुत पीछे पड गये। उन्हे एक ऐसे पथ-दर्शन की आवश्यकता थी जो सरल भाषा मे, और आमफहम ढग से ईश्वर-भक्ति और मनुष्यमात्र से प्रेम आदि ऊचे सिद्धातो को जनता के हृदयो तक पहुचा सके। गुरु नानक देव जी का अपना जीवन इतना स्वच्छ और सरल था, और उनके उपदेश ऐसे सुगम और सच्चे थे, कि पजाब के सैनिक स्वभाव के निवासियो की अतरात्मा मे घर कर गये।
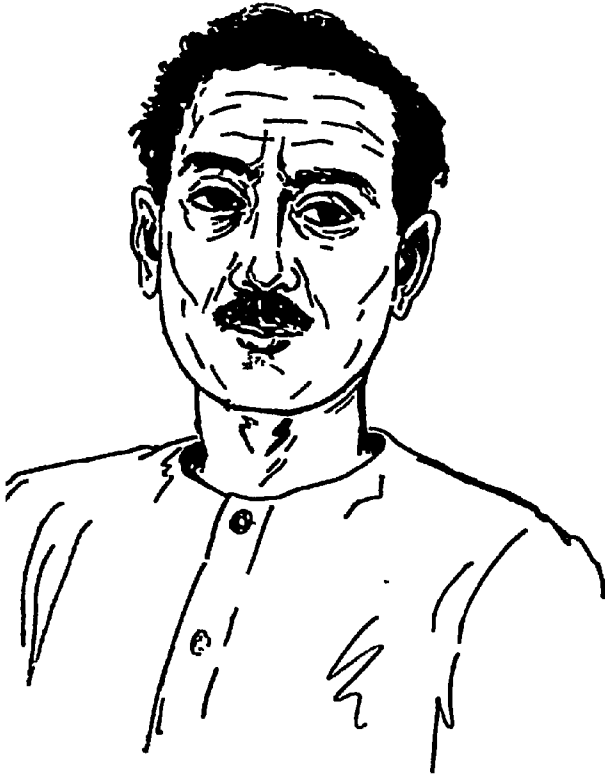
उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द

उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द

इस चरितावली के लेखक को प्रेमचन्द जी से पहली बार मिलने का सौभाग्य गुरुकुल कांगडी मे प्राप्त हुआ था। उससे पूर्व आपके उपन्यास पढ़े थे, और पत्रों मे चर्चा देखी थी। उस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रेमचन्दजी को आर्यभाषा-सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए निमन्त्रित किया गया। जिस प्रात.काल रेल से आपके हरिद्वार पहुचने की आशा थी, कुछ स्वयं-सेवकों के साथ गुरुकुल के दो अध्यापक वहुत से हार और फूल ले-कर स्टेशन पर भेजे गये। गाडी आने के लगभग १५ मिनट वाद उनमें से एक स्वयंसेवक ने साइकल द्वारा आकर गुरुकुल कार्यालय मे समाचार दिया कि श्री प्रेमचन्दजी इस ट्रेन से नही आये। शायद दूसरी से आयें, हम उस गाड़ी को देखकर आयेंगे।

इस समाचार से थोड़ी-सी निराशा हुई। हम लोग स्वागत सत्कार के लिए आगे जा रहे थे। सभापतिजी के न आने का समा-चार सुनकर पीछे लौट आये, और दूसरे काम में लग गये। थोड़ी देर मे देखता क्या हूं कि उत्सव के यात्रियों की भीड़ में एक खद्दर-धारी अधेड़ सज्जन आगे-आगे, और सिर पर एक छोटा-सा विस्तर रखे हुए एक कुली पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। जव इस सज्जन को ध्यान से देखा तो सूरत तस्वीरो मे पहचानी हुई मालूम हुई। पास आने पर जव उनकी टोपी और मूछों पर दृष्टि पडी, तो पहचान एकदम स्पष्ट हो गई कि वह तो आज के

सम्मेलन के सभापति प्रेमचन्द जी है। मैने आगे बढकर कहा—"मेरा नाम इन्द्र है। आप तो बाबू प्रेमचन्दजी है न ?" इस प्रश्न के उत्तर मे बाबू प्रेमचन्द जी बच्चो की तरह खिलखिलाकर हँस पडे, और बोले "आपने शायद मेरी बडी-बडी मूछो से मुझे पहचान लिया।" मैने पूछा—"स्टेशन से खबर आई थी कि आप गाडी से नही आये। अब आप कहा से प्रादुर्भूत हो गये ?" आपने उत्तर दिया—"स्टेशन पर कुछ लोग हार और फूल लिये इधर-उधर भागे फिर रहे थे। मैने समझा किसी नेता को लेने आये है। इस कारण मै भीड मे शामिल होकर तीसरे दर्जे के दरवाजे से निकल आया।"

इस प्रथम दर्शन का कुछ विस्तृत वर्णन देने का प्रयोजन यह है कि सक्षेप मे उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी के चरित्र का हस्तामलक की तरह दर्शन हो जाए। इस एक घटना से प्रेमचन्दजी की सादगी, उनकी राष्ट्रीय वेष-भूषा, निरभिमानता, और उद्योगशीलता आदि अनेक गुण प्रकट हो जाते है। हरिद्वार से गुरुकुल लगभग तीन मील दूर है। सभापति बनने के लिए आकर, तीन मील तक पैदल चलकर गुरुकुल पहुचना न किसी नेता के लिए सम्भव था, और न आरामपसन्द व्यक्ति के लिए। यह प्रेमचन्दजी जैसे मनुष्यरत्न के लिए ही सम्भव था। आपने जीवन भर मुसीबतो से युद्ध किया, आर्थिक दृष्टि से भी निश्चिन्तता प्राप्त न की और फिर अपनी स्वभावसिद्ध सरलता और बालोचित हँसी से शक्ति लाभ करके हिन्दी साहित्य को ऐसे बहुमूल्य उपहार दिये कि हिन्दी-जगत् उनका सदा ऋणी रहेगा।

प्रेमचन्दजी ने उत्तर प्रदेश के बनारस जिले के अन्तर्गत

लमही नाम के ग्राम मे सन् १८८० मे जन्म लिया। आपके पिता की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी। वह पोस्ट आफिस मे काम करते थे। उनका अधिक से अधिक मासिक वेतन चालीस रुपये तक पहुँचा। जिस मकान में वे लोग रहते थे उसका किराया एक रुपया आठ आना मासिक था। ऐसे वातावरण में से यशस्वी उपन्यासकार की उत्पत्ति कीचड़ से कमल की उत्पत्ति के समान ही थी। आर्थिक कठिनाइयो के होते हुए यदि प्रेमचन्द जी विद्याध्ययन कर सके, तो यह उनके दृढ सकल्प और अनथक परिश्रम का ही फल था।

जब उनकी पढ़ाई शुरू हुई तो घर पर दरिद्रता छाई हुई थी। जेठ की गर्मी और पौष की सर्दी के निवारण के लिए कभी-कभी बारह आने का जूता भी दुर्लभ हो जाता था। जब कुछ पढ गये तो पाच-पाच रुपये की ट्यूशन करके किताबो का खर्च निकाला करते थे। विशेप वात यह है कि पाच रुपये की ट्यूशन के पीछे कभी-कभी तीन-तीन मील चलना पड़ता था। एक वार आपको तीन दिन भूखा रहना पडा। तव आपने अपनी गणित की किताव बेचकर क्षुधा शान्त की। गणित से प्रेमचन्द जी का शुरू से ही विरोध-सा था। आपके जीवन से यह सिद्ध होता है कि गणित और साहित्य एक कोठरी मे नही रह सकते। गणित आप की सफलता में तब तक बाधक वना रहा जब तक शिक्षा-विभाग ने उसे इण्टर कक्षा मे वैकल्पिक विषय नही कर दिया।

आप कायस्थ थे। उन दिनो कायस्थो की आजीविका का आधार फारसी-उर्दू ही था। प्रेमचन्दजी ने भी प्रारम्भ मे फारसी उर्दू की शिक्षा प्राप्त की, और जव सतत परिश्रम और असा-

धारण लगन से बी.ए. पास कर लिया, तब आप उर्दू मे लिखा करते थे। उस समय आपकी आयु ३४ वर्ष की थी। प्रत्येक मनुष्य अपनी परिस्थितियो और अनुभवो से प्रभावित होता है। प्रेम-चन्दजी के प्रारम्भिक जीवन का उनके साहित्य पर गहरा प्रभाव पडा। वह ऊचे महलो और अटारियो के चित्रकार नही थे। उनकी लेखनीरूपी तूलिका ने जो चित्र खीचे है, उनमे गरीबों और उनकी झोपडियो की, मजदूरो और उनके कष्टो की प्रधानता है। वह स्वय जिन कठिनाइयों मे से होकर गुजरे थे, उनसे सहानुभूति रखना स्वाभाविक था। इसीलिए वह शोषित वर्ग के प्रतिनिधि कलाकार थे।

प्रेमचन्दजी का बचपन का नाम धनपतराय था। आपकी पहली उर्दू की कृतिया इसी नाम से प्रकाशित हुई थी। फिर शायद आप को यह नाम अटपटा-सा लगा क्यो कि साहित्य-सेवा से धनपति बनने के दिन अभी नही आये थे। आप स्वभाव ही से अर्थ के उपासक नही थे। अर्थ की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी उसकी उपासना नही कर सकते थे। आपका हृदय मनुष्य-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम आदि अनेक रूपो मे प्रेम का पुजारी था, इस कारण जीवन के मध्य पहुचकर आपने प्रेम-चन्द यह यथार्थ नाम ग्रहण कर लिया, और इसी नाम से लिखने लगे।

आपके पारिवारिक जीवन मे एक ऐसी गाठ पड गई, जिसने उसे भी कुछ असाधारण अनुभवो का साधन वना दिया। पहले विवाह के सम्बन्ध मे आपने लिखा है—

"कई रोज का अर्सा हो गया था। ऊट-गाडी से आना पडा।

जब हम ऊट-गाडी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिये तैयार नही था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी, उम्र मे वह मुझ से बहुत ज्यादा थी। जब मैंने उसकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।"

उनकी स्त्री विकटरूप थी। ऐसे बेमेल सम्बन्ध का परिणाम अच्छा नही निकला। बेचारी पहली पत्नी को सदा मायके मे ही रहना पडा और अनेक मित्रो के आग्रह से प्रेमचन्द जी नें दूसरा विवाह कर लिया। दूसरे विवाह का सम्बन्धियो की ओर से विरोध हुआ, क्योंकि नई पत्नी शिवरानीदेवीजी बाल-विधवा थी। वह ग्यारह वर्ष की आयु मे ही विधवा हो गयी थी। यह नया सम्बन्ध प्रेमचन्दजी के लिए सुखदायक हुआ। साहित्यिक प्रेमचन्दजी मे जिस व्यावहारिकता की कमी थी, शिवरानीदेवी जी मे उसका पुष्कल अस्तित्व था। जैसा प्राकृतिक नियम के अनुसार होना चाहिये, दोनों भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो के परन्तु समझदार साझीदारो का यह गृहस्थ एक दूसरे के गुणों से अनुप्राणित होता हुआ सफल और सुखदायक हुआ। आपकी माता का देहान्त तभी हो गया था, जब आप सात वर्ष के थे और पिता ने दूसरी शादी कर ली थी।

पारिवारिक ससार का यह अनुभव भी प्रेमचन्द जी को प्राप्त हो गया। इन सब विविध अनुभवो ने उन्हे प्रभूत मात्रा मे साहित्य-निर्माण की सामग्री प्रदान की, इसमें सन्देह नही।

बचपन से ही प्रेमचन्द जी को कहानियां और उपन्यास पढ़ने का शौक था। विशेष रूप से आप उर्दू के सामयिक लेखकों के उपन्यासो को पढ़ने के शौकीन थे। अंग्रेजी पढ़ लेने पर रेनाल्ड और

स्काट के ग्रन्थ भी पढ डाले। उन्नीस वष की अवस्था मे आपका पहला उपन्यास 'कृष्णा' नाम से निकला। उसके दो वर्ष बाद 'वरदान' प्रकाशित हुआ। १९०५ मे आपने 'प्रेमा' नाम का उपन्यास लिखा जिसकी कई आलोचको ने प्रशसा की। १९१४ तक आप उर्दू मे लिखते रहे। उसके बाद हिन्दी मे लिखना शुरू किया। इन उपन्यासो और कहानियो ने आपको पाठको से परिचित तो करा दिया परन्तु विशेष ख्याति प्राप्त नही हुई। आपकी ओर हिन्दी जगत् का ध्यान विशेष रूप से तब आकृष्ट हुआ, जब आपका 'सेवासदन' नाम का उपन्यास प्रकाशित हुआ। उन दिनो आप गोरखपुर के स्कूल मे अध्यापक का काम करते थे। आज पढे तो 'सेवासदन' मे कोई विशेष बात दिखाई नही देती परन्तु जिस समय 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ, उस समय उसमे एक अनूठापन था। गगा मे से नहरे तो कई शिल्पियो ने निकाली है परन्तु उसके साथ नाम भगीरथ का ही जुडा हुआ है। हिन्दी के उपन्यास, लीक पर पडी हुई बैलगाडी की तरह चरचर करते हुए धीरे-धीरे चले जा रहे थे, 'सेवासदन' ने उन्हे एक ऐसा रास्ता दिखाया जो सामयिक भी था और मौलिक भी। यही कारण है कि प्रेमचन्दजी आधुनिक हिन्दी उपन्यासो के जन्मदाता कहे जाते है।

हिन्दी के उपन्यासों का इतिहास कई युगो मे से होकर गुजरा है। बहुत पुराने उपन्यासो मे से इन्शाहअल्लाह की 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलालजी की 'सिहासन बत्तीसी' और 'प्रेमसागर' आदि कथाये प्रसिद्ध है। इनका कथानक अलौकिक है परन्तु पृष्ठभूमि प्राय धार्मिक है। यह हिन्दी उपन्यास का पहला

युग था ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अर्वाचीन हिन्दी के जन्मदाता कहे जाते है। उन्होंने न केवल भाषा की नई परिपाटी को जन्म दिया, साहित्य मे नये भावो का भी प्रवेश किया। आपने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्र प्रभा' नाम का उपन्यास लिखकर अन्य हिन्दी लेखकों का मार्ग-प्रदर्शन किया। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी के बहुत-से प्रसिद्ध लेखक हुए जिन्होने भारतेन्दु-युग का निर्माण किया। उनमे से किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद और बाबू गोपालराम गहमरी आदि सुलेखको के नाम हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास मे विशेष स्थान रखते है। उन्नीसवी सदी के अन्त मे अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासो का प्रकाशन जारी हुआ। यह सम्भवत उर्दू साहित्य के प्रभाव का फल था। देवकी-नन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि उपन्यासो ने इस शैली को ख्याति की चरम सीमा तक पहुचा दिया। यह हिन्दी उपन्यास का तीसरा युग था। इसी समय हिन्दी में बगला के उत्तमोत्तम उपन्यासो का अनुवाद आरम्भ हुआ। बंकिमचन्द्र और रमेशचन्द्र दत्त आदि प्रख्यात लेखको के प्राय सभी उपन्यासो के अनुवाद हिन्दी मे प्रकाशित हो गये। उनके पीछे-पीछे बगला के जासूसी उपन्यासों के भी अनुवाद आने लगे। वह अनुवाद युग था।

इस युग-विभाजन का यह अभिप्राय नही कि अनुवाद युग मे कोई मौलिक उपन्यास छपे ही नही। छपे, परन्तु वे अपवाद थे। एक तो हिन्दी मे मौलिक उपन्यास निकलते ही कम थे और जो निकलते भी थे, पढने वालो को वे उतने पसन्द नही आते थे,

जितने 'आनन्द मठ' 'कपाल कुण्डला' और 'राजपूत' 'जीवन-सन्ध्या' के अनुवाद। यह परिस्थिति थी जिसमे 'सेवासदन' का प्रकाशन हुआ। सेवासदन का विषय सामाजिक था, भाषा सरल और आमफहम थी। एक समस्या को उठाकर उसका सुन्दर हल पेश किया गया था। इन सब गुणो के साथ विशेष बात यह थी कि कथानक मनोरजक था। हिन्दी के पाठको को वह चीज साम-यिक और नई मालूम हुई, जिससे हिन्दी जगत् का ध्यान प्रेम-चन्द जी की ओर खिच गया। उसके पश्चात् प्रेमचन्द जी की प्रतिभा और लेखनी मे मानो असाधारण शक्ति आ गई। क्रमश' 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'काया-कल्प' और 'गोदान' हिन्दी ससार के सम्मुख आये। इनमे से प्रत्येक कुछ नवीनता लिये हुए था। उस नवीनता का कारण यह था कि प्रेमचन्द जी का हृदय अत्यन्त कोमल था, वह बाहर के प्रभावो से बहुत अधिक और शीघ्र प्रभावित होता था। भारत के इतिहास मे १९१९ से लेकर १९४७ तक का समय क्रान्तिमय था। देश का केवल राजनैतिक कलेवर ही नही, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक ढाचा भी मानो शान पर चढाकर चमकाया जा रहा था। ऐसे क्रान्तिमय काल मे यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमचन्दजी का कोमल हृदय देश मे फैली हुई प्रत्येक नई भावना से प्रभावित होता। हिन्दू-मुस्लिम एकता, अहिसात्मक सग्राम, खद्दर, किसानों और मजदूरो का उत्थान आदि के जो-जो आन्दोलन देश मे उठते रहे, प्रेमचन्द जी के उपन्यासों पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ता रहा। इस प्रकार प्रेमचन्द जी अपने समय के ऊचे दर्जे के और पूरे प्रति-निधि लेखक थे। उन्होने हिन्दी के उपन्यासकारो को रचना की

केवल नई दिशा ही नही दिखाई, कई वर्षो तक आगे-आगे चलकर दूसरे पड़ाव तक भी पहुंचा दिया।

यह प्रसिद्ध है कि सरस्वती और लक्ष्मी का प्राय· एकत्र निवास नही होता। प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध मे यह लोकोक्ति सत्य सिद्ध हुई है। आपके लिखे हुए उपन्यासों और कहानियों को जनता ने बहुत आस्वाद से पढा, सामयिक पत्रो मे उनकी भरपूर प्रशसा हुई। समालोचको ने प्रेमचन्द जी को उपन्यास-सम्राट् की उपाधि दी और यह कहने मे कुछ अत्युक्ति नही है कि प्रेमचन्द जी के अतिरिक्त अन्य लोगो ने उनकी लिखी किताबे बेच-बेचकर महल भी खडे कर लिये। परन्तु प्रेमचन्द जी अन्त तक लगभग वही रहे जो साहित्य-जीवन के प्रारभ मे थे। सन्तोष उनका धन रहा, सादगी उनकी सजावट रही और निश्छल हसी उनकी शोभा रही। उन्होने पुस्तके प्रकाशित की, प्रेस चलाया और कुछ समय तक फिल्म के लिए कहानी भी तैयार की, परन्तु रहे अन्त तक प्रेमचन्द ही, फिर लौटकर धनपतराय न बन सके। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी आदर्श कलाकार थे।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

: ७ :
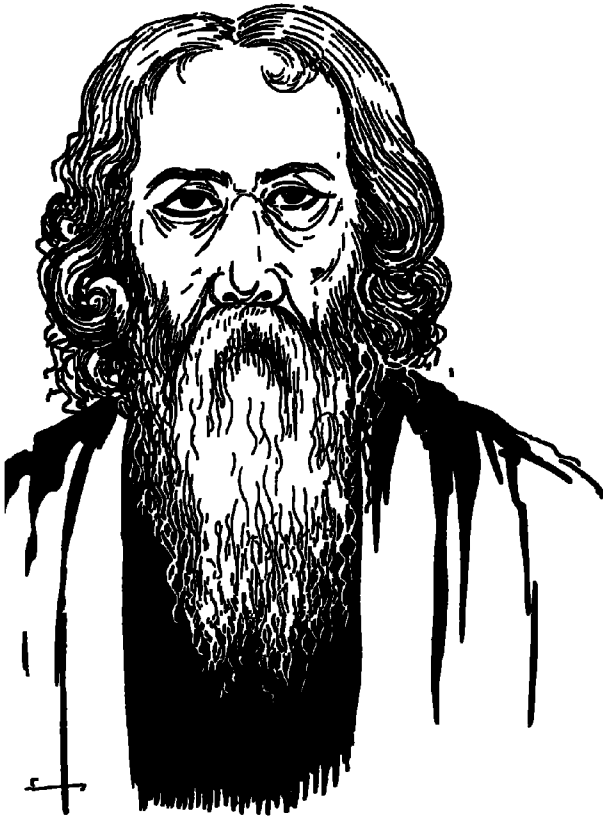
कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जिन व्यक्तियो को जीवन-पर्वत के यशरूपी शिखर पर पहुँचने मे सफलता प्राप्त होती है, उनकी दो श्रेणिया है। पहली श्रेणी मे वे व्यक्ति है जो पर्वत की तलहटी मे जन्म लेते है। वे समाज के निम्न स्तर मे उत्पन्न होकर अपनी बुद्धि और मेहनत के सहारे पर्वत पर चढना आरम्भ करते है, और यदि परिस्थितियों ने, जिनका दूसरा नाम भाग्य है, साथ दिया तो जीवन के मध्य भाग मे चोटी पर पहुच जाते है।

दूसरी श्रेणी उन सौभाग्यशाली व्यक्तियो की है, जो पर्वत की ऊँची चोटी के समीप ही किसी समतल भूमि पर जन्म लेकर बडी सुविधा से शिखर की ओर चल देते है। यदि उनमें प्रतिभा भी हो और परिश्रम भी, तो उन्हे चोटी पर पहुंचने में देर नही लगती। ऐसे ही व्यक्तियो के विषय में गीता मे भगवान् ने कहा है—

"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"

अर्थात्, ऐसे व्यक्ति जो एक जन्म मे लक्ष्य के समीप तक तो पहुच जाते है परन्तु किसी कारण लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकते, वे दूसरे जन्म मे श्रेष्ठ कुल मे जन्म लेते है। कवीन्द्र डा० रवीन्द्रनाथ इसी श्रेणी के सौभाग्यशाली व्यक्तियो मे से थे। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर सभी प्रकार से प्रसिद्ध थे। जिस घराने मे उन्होने जन्म लिया, उस की गिनती वगाल मे धन और

मान की दृष्टि से बहुत ऊँची थी। वह स्वय उच्च कोटि के विद्वान् और धर्मात्मा थे। देशवासियो ने इन्ही गुणो के कारण उन्हे महर्षि पद से विभूषित किया था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ब्रह्मसमाज के प्रख्यात नेता थे।

महर्षि देवेन्द्रनाथ बहुत ही साधु-वृत्ति के महात्मा थे। घर मे बहुत कम रहते थे। प्राय एकान्त पर्वतीय स्थानो मे रहकर स्वाध्याय, लेखन और साधना मे समय व्यतीत करते थे। उनकी पत्नी प्राय रोगी रहती थी। घर का सब कामकाज रवीन्द्रनाथ के बडे भाइयो के हाथ मे रहा। डाक्टर रवीन्द्रनाथ का जन्म ७ मई, १८६१ ई० को हुआ। प्रारभ से ही उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था महर्षि के तीसरे पुत्र हेमेन्द्रनाथ के निरीक्षण मे होती रही। जो अध्यापक लोग पढाने आते थे, उनके काम की देखभाल हेमेन्द्रनाथ ही करते थे। कविवर ने जो आत्मकथा लिखी है, उसमे उन्होने बतलाया है कि पाठ्य पुस्तको तथा स्कूल की पढाई मे उन्हे बिलकुल रुचि नही थी। यो तो वह बहुत छोटी आयु से ही सोचने और लिखने लगे थे, परन्तु परीक्षाओ के ढर्रे मे पडना उन्हे पसन्द नही था। प्रतिभा उन्हे यशस्वी पिता से प्राप्त हुई थी और शिक्षा का अवसर ऐश्वर्यशाली कुल के कारण मिल गया। शिक्षा का यह क्रम १७ वर्ष की आयु तक जारी रहा। उन वर्षो मे रवीन्द्रनाथ ने मुख्य रूप से बगला और अग्रेजी भाषा मे कुशलता प्राप्त कर ली। अन्य विषयो की ओर उनकी विशेष रुचि नही थी। सरकारी यूनिवर्सिटियो के साचे मे ढालने से कोई लाभ न देखकर परिवार के बुजुर्गो ने उन्हे शिक्षा पूरी करने के लिए १८७८ मे इगलैड भेजा। वहा दो वर्ष तक निवास करके उन्होने

अपनी अग्रेजी की योग्यता बढाने के साथ-साथ विशाल ससार का अनुभव भी प्राप्त किया। कविवर के मानसिक क्षेत्र की व्यापकता मे इन दोनो ही घटनाओ से सहायता मिली है। सीमाबद्ध शिक्षणालयो के शिकजे मे न पडने के कारण वह सकुचित मनोवृत्ति से बचे रहे और सर्वथा स्वतन्त्र रूप से भारत से बाहर जाकर विश्व को देखने का अवसर मिलने से उनके लेखो, कविताओं, मे और रचनात्मक कार्यो मे भी विश्व-बन्धुत्व की भावना को मुख्यता मिल गइ।

रवीन्द्रनाथ के जिस काव्य ने कवियो की श्रेणी मे उनकी गणना करा दी, वह 'सान्ध्य-सगीत' था। जब वह प्रकाशित हुआ, तब आपकी आयु २१ वर्ष की थी। बगाल के प्रसिद्ध लेखक रमेशचन्द्र दत्त की लडकी की शादी मे बगाल के बहुत से प्रसिद्ध महानुभाव एकत्र हुए थे। वहा बगभाषा के उपन्यास-सम्राट् वकिमचन्द्र चटर्जी भी आये थे। जब रवीन्द्रनाथ को वकिम बावू ने वहा देखा तो उन्हे आशीर्वाद देते हुए कहा, "यह साहित्य के अन्तरिक्ष का उदित होता हुआ सितारा है।" कविवर ने अपने सस्मरणो मे लिखा है कि उन्हे उन प्रारम्भिक दिनो मे साहित्यिक रचना करने का विशेष प्रोत्साहन भाई ज्योतीन्द्रनाथ और उनकी पत्नी से मिला। वे दोनो न केवल युवक कवि की प्रवृत्तियो को बढावा देते थे, सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा उसकी कविताओ को सुसस्कृत भी करते रहते थे।

'सान्ध्य-सगीत' के दो वर्ष वाद 'प्रभात-सगीत' प्रकाशित हुआ। उसका बगाल मे अपूर्व स्वागत हुआ। उसके पश्चात् तो पत्र-पत्रिकाओ मे आपकी कविताओ, नाटको और निवन्धो का

तांता सा लग गया। गगोत्री से निकलती हुई जलधारा की तरह आपकी लेखनी से रचनाओ की धारा बहने लगी।

रवीन्द्रनाथ की रचनाओ मे प्रारभ से ही हम विचारो की तीन प्रवृत्तिया पाते है। वह धार्मिक और सामाजिक रूढियो के सर्वथा विरोधी थे। इस दृष्टि से वह पक्के सुधारक थे। उनकी सभी रचनाओ मे सुधार का समर्थन भासित होता है। उनके सुधार-प्रेम की एक विशेषता यह थी कि उच्छृखलता के वह कट्टर शत्रु थे। 'सयम ही आनन्द का मूल है' यह उनका दृढ सिद्धान्त था, जो उनके उपन्यासो तथा नाटको मे स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है।

उनकी विचारधारा विशुद्ध राष्ट्रीय थी। वह यद्यपि अपने समय की भारतीय राजनीति से व्यावहारिक रूप मे अलग रहे परन्तु यह निर्विवाद बात है कि देश मे राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जो सग्राम चल रहा था, उसके साथ उनकी पूर्ण सहानुभूति थी। जब कभी वह सामयिक राजनीति के सम्पर्क मे आते तब उनकी राष्ट्रीय-भावना सूर्य की तरह चमक उठती।

इस दूसरी मानसिक प्रवृत्ति के साथ-साथ प्रारभ से ही रवीन्द्रनाथ की रचनाओ मे हम एक विशेष विचारधारा का मिश्रण पाते है। उस विचारधारा का सक्षिप्त वर्णन कालिदास के निम्नलिखित दो पदो मे किया जा सकता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्,
न चापि सर्व नवमित्यवद्यम्।

अर्थात्, कोई वस्तु केवल इसलिए अच्छी नही कि पुरानी है, और न इसीलिए बुरी है कि वह नई है। इस प्रकार कोई वस्तु

अपने देश की होने मात्र से अच्छी नही हो जाती, अच्छी वस्तु सभी जगह अच्छी है। अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व-बन्धुत्व का यही मूल आधार है। कवीन्द्र हिन्दू-मुस्लिम एकता के परम पक्षपाती थे, परन्तु उनकी एकता का आधार राजनीतिक नही था। उनके बनाये 'जन-गण-मन-अधिनायक' वाले राष्ट्रीय गान मे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि सबकी जिस एकता की चर्चा है, वह स्वराज्य-प्राप्ति के सौदे का अग नही है, अपितु मानव-बन्धुत्व का एक अग है। कवीन्द्र अपने समय के राष्ट्रीय आन्दोलन के अत्यन्त निकट रहते हुए और महात्मा गान्धी जी के आत्मीय सखा होते हुए भी कभी गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के अग न बन सके, उसका यही कारण था कि आपकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का, और एक समुदाय का दूसरे समुदाय से प्रेम, मनुष्यमात्र के परस्पर बन्धुत्व का अग है।

ये विशेषताएं थी, जिनके बीज युवक रवीन्द्रनाथ की रचनाओ मे पहले से उपलब्ध होते थे। वे बीज समय पर अंकुरित हुए और प्रौढावस्था मे लहलहाते पेड के रूप में परिणत होकर ससार को आश्चर्यचकित करने लगे। डा० रवीन्द्रनाथ की माग अपने देश से भी अधिक दूसरे सभ्य देशो में होने लगी।

'प्रभात-गीत' के कुछ समय पश्चात् कवीन्द्र का 'सन्यासी' अथवा 'प्रकृति-परिशोध' नाम का नाटक प्रकाशित हुआ। उस नाटक का उद्देश्य झूठे वैराग्य की निस्सारता बताना था। एक व्यक्ति जो युवावस्था मे ससार से मुक्त होने की अभिलाषा से सन्यासी बनकर पतन की ओर जाने लगा था, एक स्त्री का

नैसर्गिक प्रेम उसे गृहस्थ बनाकर पतन से बचा देता है। इस नाटक ने पाठको को यह अनुभव करा दिया कि रवीन्द्रनाथ केवल लेखक नही है, वह एक ऐसा विचारक है जिसके पास ससार को देने के लिए कोई सन्देश भी है।

१९०१ मे 'नैवेद्य' नाम का कविताओ का सग्रह प्रकाशित हुआ। उस सग्रह की कविताओ मे विशेष बात यह थी कि भारत के प्राचीन आदर्शो की प्रशसा और उनकी तुलना मे पश्चिम के भौतिकवाद की निन्दा की गई थी कवि को भारत का शान्ति-प्रेम जितना अपनी ओर खीचता था, पश्चिम का क्रूरताभरा स्वार्थ उतना ही उद्विग्न करता था। सन् १९०१ का वर्ष रवीन्द्र-नाथ के जीवन मे एक स्मरणीय वर्ष है। क्योकि बोलपुर ब्रह्म-चर्याश्रम की बुनियाद इसमे पडी थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने वीरभूम जिले के बोलपुर गाव मे भूमि का एक टुकडा खरीदा था, जिसमे वह अपने एकान्तवास के लिए आश्रम बनाना चाहते थे। रवीन्द्रनाथ उन दिनो भारत के प्राचीन आदर्शो के अनुसार शिक्षा देने वाली सस्था स्थापित करने के सबध मे विचार कर रहे थे। पिता की अनुमति लेकर उन्होने १९०१ मे उस आश्रम की स्थापना कर दी। यही आश्रम कुछ समय पश्चात् विकसित होकर 'विश्वभारती'के रूप मे परिणत हो गया।१९०५ मे एक ऐसी घटना हुई जिसने कविवर के भावी जीवन पर अत्यन्त प्रभाव डाला। उनके पिता का देहान्त हो गया। १९०९-१९१० मे उनकी 'राजा' और 'तिलाजलि' नाम की दो पुस्तके प्रकाशित हुई और १९११ मे 'डाकघर' नाम का नाटक जनता के हाथ मे आया। इन तीनो रचनाओ मे हम कवि की प्रतिभा के दायरे को

अपने देश की सीमाओ से आगे बढ़कर विश्व मे प्रवेश करता पाते हैं। अब उनका परोक्षदर्शी मन विश्व की समस्याओ को सुलझाने मे लग रहा था।

१९११ मे बगीय साहित्य-परिषद् की ओर से कविवर की पचासवी वर्षगाठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई। उस उत्सव के अवसर पर बगला के बहुत से ऐसे लेखक भी सम्मिलित हुए जो उससे पूर्व उनके काव्यो मे दोष निकाला करते थे।

१९१३ मे कविवर रवीन्द्रनाथ को 'नोबल प्राइज' दिया गया। यह पुरस्कार उस व्यक्ति को दिया जाता है, जो उस समय किसी दृष्टि से सबसे अधिक गुणवान् हो। उस वर्ष कविवर के 'गीताजलि' नाम के कवितासग्रह को ससार का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना गया। कविवर को यह पारितोषिक मिलने का सक्षिप्त इतिहास यह है कि इगलैण्ड के प्रसिद्ध चित्र-कार मिस्टर रौथन स्टीन ने जब रवीन्द्रनाथ की कुछ कहानियों और कविताओ के अग्रेजी अनुवाद पढे, तो उसे यह अनुभव हुआ कि उनका रचयिता कोई महाकवि होना चाहिये। उन्ही दिनो कविवर इगलैंड गये और अपनी बगला कविताओ के अग्रेजी अनुवाद वहा के प्रसिद्ध विद्वानो को दिखाये। सभी ने उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की। इन्डिया सोसाइटी ने उन ग्रन्थो को सुन्दर रूप मे प्रकाशित कर के यूरोप मे उनका प्रचार किया। जिन मित्रो ने पश्चिम के विद्वानो तक गीताजलि को पहुचा कर 'नोबल प्राइज' के दिये जाने मे सहायता दी, उनमे से श्रीयुत सी० एफ० एण्ड्रयूज का नाम मुख्य है। 'नोवल-प्राइज' के रूप मे कवि को स्वीडिश एकेडमी से जो

प्रभूत धनराशि प्राप्त हुई, वह उन्होने अपनी प्रिय सस्था शान्ति-निकेतन को प्रदान कर दी।

'नोबल-प्राइज' मिलने का भारतवासियो के हृदयो पर बहुत व्यापक असर हुआ। एक भारतीय कवि के पश्चिम द्वारा सम्मानित होने पर उनके दिल उछल पडे। भक्तो का एक जत्था स्पेशल ट्रेन द्वारा कलकत्ते से शान्ति-निकेतन पहुचा और श्रद्धाजलि भेट करने के लिए कवि की सेवा मे उपस्थित हुआ। उन्हे कवि ने जिन शब्दो से लज्जित किया वे सुनने मे कुछ कठोर होते हुए भी वस्तुत सत्य थे। आपने कहा, "आप लोगो ने मेरे ग्रन्थ तो पहले भी पढे होगे, सम्भव है कुछ ने न भी पढे हो, आप सब मिलकर आज जो मुझे बधाई देने आये है, उसका यह कारण प्रतीत नही होता कि आप मेरे ग्रन्थो का आदर करते है, प्रत्युत् यह कि पश्चिम ने उनका आदर किया है। इस कारण आपने जो प्रशसा का प्याला मुझे दिया है मै उसे होठो तक तो ले जाऊँगा परन्तु पी नही सकूँगा।" इस उपालम्भ मे जो थोडी-सी कडवाहट है, उसमे एक गहरा सत्य छिपा हुआ है। उन दिनो हम लोगो की यही मनोवृत्ति थी कि यदि हमारी मिट्टी पर भी विलायत का लेबल लग जाता था तो हम उसे सोना मान लेते थे और जिस सोने पर वह लेवल न लगा हो, उसे मिट्टी से अधिक सम्मान नही देते थे।

यो तो नोबल-प्राइज मिलने से पहले भी कविवर को यूरोप से व्याख्यान देने के निमन्त्रण आते रहते थे, पर उसके पश्चात् तो मानो बाढ-सी आ गई। उन्हे अनेक सोसाइटियो और विश्व-विद्यालयो की ओर से निमन्त्रण आने लगे। अमेरिका मे आपने

जो व्याख्यान दिए उन्हे 'साधना' नाम से प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक मैक्मिलन एण्ड कम्पनी ने प्रकाशित किया। इग्लैड मे और यूरोप के कई अन्य देशो मे भी आपने भारत का सन्देश सुनाया।

ज्यो-ज्यो कविवर पश्चिम के सम्पर्क मे आते गये त्यो-त्यो वहा की वढती हुई ऐय्याशी और घातक प्रवृत्तियो को देखकर उनके मन मे ग्लानि-सी उत्पन्न होती गई। उन्हे अनुभव होने लगा कि यूरोप के चमकते हुए पर्दे के पीछे सर्वनाश की सामग्री तैयार हो रही है। इस भावना को उन्होने अपनी 'दी ट्रम्पैट' शीर्षक कविता मे प्रकाशित भी किया। उस समय यूरोप का पहला युद्ध आरम्भ नही हुआ था। अपनी कविता मे यूरोप के सम्बन्ध मे कवि ने जो आशका प्रगट की थी, वह एक प्रकार से भविष्यवाणी ही सिद्ध हुई। उस के थोडे ही समय के पश्चात् यूरोप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो गया। जिन लोगो ने कवि की नई कविताएँ पढी थी उन लोगो को विश्वास हो गया कि रवीन्द्र-नाथ मे सच्चे कवि का यह गुण विद्यमान है कि वह समय की दीवारो को तोडकर भूत, वर्तमान और भविष्य को देख सके।

१९१५ मे जव महात्मा गाधी ने दक्षिण अफ्रीका से अपने 'फौनिक्स आश्रम' के छात्रो को भारतवर्ष मे भेजा तव पहले वे छात्र कुछ महीनो तक गुरुकुल कागडी मे रहे और फिर कुछ सप्ताहो तक शान्ति-निकेतन मे। दोनो महापुरुषो की प्रथम भेट उसी अवसर पर हुई। गाधीजी ने कवि को गुरु धारण कर लिया और 'गुरुदेव' कहकर सम्वोधित करने लगे, और कवि ने गाधी जी को 'महात्मा' की पदवी से विभूषित

किया।

इस समय कवि को अनेक विश्वविद्यालयो से 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी। वह जिन विश्वविद्यालयो मे भाषण देने के लिए जाते थे, वहा से उन्हे अनेक प्रकार की आदर-सूचक भेटे प्राप्त होती रहती थी। कभी कभी इस नियम के अपवाद भी हो जाते थे। आप ससार को भारत का सन्देश सुनाते हुए प्राय पश्चिम के हिसावाद की निन्दा किया करते थे। हिसा-वाद के पुजारी कभी-कभी इससे नाराज भी हो जाते थे। उन दिनो जापान हिसावाद के भयानक पागलपन मे फसा हुआ था। रूस पर विजय प्राप्त हो जाने से उसका मानसिक सतुलन बिलकुल बिगड गया था। कवि के जो व्याख्यान टोकियो मे तथा अन्य नगरो मे हुए, उनमे कही-कही शक्तिवाद के समर्थको ने वावेला किया। कई बेढगे प्रश्न उठाये गये, जिन मे से एक यह भी था कि यदि भारत का सन्देश ही सत्य है तो तेतीस करोड व्यक्तियो का वह देश छोटे-से इगलैड के अधीन क्यो है। एक आक्षेपकर्ता ने यहा तक कहा कि व्याख्याता महोदय को अपना सदेश जन्म-भूमि मे जाकर सुनाना चाहिये, हमे ऐसे निर्बलता से भरे हुए सदेश की आवश्यकता नही है।

डा० रवीन्द्रनाथ की सहानुभूति सदा देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ रही। दो एक बार आप बग-विच्छेद के दिनो मे आन्दोलन के सम्पर्क मे भी आये परन्तु, अपनी साहित्यिक और दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण कभी उसमे विलीन नही हुए, सदा कमलपत्र पर जल के समान ही रहे। महात्मा गाधीजी उन्हे राष्ट्र का पहरेदार कहा करते थे। जब कभी उनका महात्माजी के

राजनैतिक कार्यक्रम से मतभेद होता था, तव वह स्पष्ट शब्दों में सार्वजनिक रूप से उसे प्रकट कर देते थे। यों सामान्य रूप से वह राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रहते थे। पजाव के मार्शल-लॉ के दिनो में देशभक्तो पर अंग्रेजी सरकार के अत्याचार वहुत वढ गये। तब आपने वह 'सर' की उपाधि सरकार को वापिस कर दी, जो उन्हे कई वर्ष पूर्व सरकार से प्राप्त हुई थी। १९३२ में रैम्से मेक्डौनल्ड के साम्प्रदायिक फैसले के विरोध मे महात्मा गाधी ने जेल मे आमरण अनशन किया था, उससे कविवर इतने विचलित हुए थे कि उन्होने न केवल रैम्से मैक्डोनल्ड को वहुत कडा तार दिया, वरन् स्वय पूना पहुंचकर महात्मा जी की परिचर्या मे भाग लेने लगे और जव पारस्परिक समझौता हो जाने पर महात्माजी ने उपवास खोलने का निश्चय किया तब कवीन्द्र ने अपने कण्ठ से कविता द्वारा आशा का सन्देश सुनाकर उन्हे आल्हादित किया था।

अग्रेजो के राज्यकाल मे शायद किसी अन्य भारतवासी को संसार के अन्य देशो मे ऐसा शाही सम्मान प्राप्त नही हुआ, जैसा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को। अमेरिका, इग्लैंड, फ्रास, इटली, जर्मनी, नारवे, वाल्कनदेश, ग्रीस, चीन, जापान, मिश्र, ईरान, ईराक, मलाया, सीलोन, जावा, वाली और कैनाडा आदि देशों मे कवि निमन्त्रण पाकर गये और अपना सन्देश सुनाया। सब जगह की जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया, अनेक देशो मे वहा के प्रधान शासको ने आपका राजोचित सम्मान किया।

१९३१ मे भारत लौटने पर देश भर मे वड़े उत्साह और

समारोह् से रवीन्द्र-जयन्ती मनाई गई। आपके सम्मान मे कई ग्रन्थ प्रकाशित किये गये, और आपके दीर्घ जीवन के लिए प्रार्थनाएँ की गई। भारत के बनारस, हैदराबाद और ढाका आदि के विश्वविद्यालयो ने आपको 'डाक्टरेट' की उपाधियो से विभूषित किया और सम्मान किया। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तो एक कदम आगे बढ गया और शान्ति-निकेतन मे ही अपने प्रतिनिधि को भेजकर 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि कवि-वर को समर्पित कर दी।

१९४० के सितम्बर मे कविवर का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। लगभग एक वर्ष तक रोगी रहकर १९४१ के अगस्त मास की सातवी तारीख को भारत की जगमगाती ज्योति, कवीन्द्र रवीन्द्र ने भौतिक शरीर को त्याग कर परलोक को प्रस्थान किया। आप चले गये, परन्तु आपका उज्ज्वल साहित्य आज भी आपकी स्मृति को अमर बनाये हुए है।

डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

: ८ :

डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

इस शताब्दी मे, वैज्ञानिक जगत् मे जिन भारतवासियो ने अपने देश का सिर ऊंचा किया है, उनमें डा० सर शान्तिस्वरूप भटनागर का नाम विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा। डा० भटनागर के वैज्ञानिक अनुसन्धानो की यह विशेषता थी कि उनकी प्रवृत्ति क्रियात्मक और उपयोगिताप्रधान थी। उनके प्राय: सभी अन्वेषण उद्योग के सहायक हुए। भारत के प्राय. सभी प्रदेशों की अपनी-अपनी विशेषताएँ है। बगाल कल्पना के लिए, मद्रास प्रतिभा के लिए और पजाब कर्मण्यता के लिए प्रसिद्ध है। यह नैसर्गिक ही था कि बगाल ने जड़-चेतन की एकता सिद्ध करने वाले डा० वसु को, मद्रास ने दर्जनो आविष्कारों के कर्ता डा० रमन् को और पजाब ने उद्योग तथा शिक्षा के सहायक आविष्कारों के उद्भावक डा० भटनागर को जन्म दिया।

डा० सर शान्तिस्वरूप भटनागर का जन्म पजाब के भेडा कस्बे मे हुआ था। आपके पिता ला० परमेश्वरीसहाय स्कूल मे मास्टर थे। जब परमेश्वरीसहाय जी की मृत्यु हुई, उस समय शान्तिस्वरूप जी की अवस्था केवल आठ मास की थी। यदि शान्तिस्वरूप जी के नाना मुन्शी प्यारेलाल जी बच्चे की रक्षा तथा शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेते तो बच्चे की माता के लिए उसका पालन-पोषण एक समस्या हो जाती।

स्कूल मे बालक शान्तिस्वरूप की बहुत ही होशियार

लडको मे गिनती थी। वह अध्यापको से ऐसे-ऐसे प्रश्न करता था कि उनके लिए उत्तर देना कठिन हो जाता था। विज्ञान की ओर शान्तिस्वरूप का बचपन से ही झुकाव था। वह कबाडियो के यहा से काच और धातुओ की छोटी-छोटी चीजे खरीदकर अपने कमरे मे साइस के परीक्षण करता रहता था।

इसी विधि से भानुमती का कुनबा जोड़कर भावी, विज्ञानाचार्य ने स्कूल के अपने कमरे मे एक स्वनिर्मित टैलीफोन लगाकर अपने हैडमास्टर लाला रघुनाथसहाय जी को आश्चर्यान्वित कर दिया था। १९११ ई० मे, १७ वर्ष की आयु मे शान्तिस्वरूपजी ने पंजाब यूनिवर्सिटी से प्रथम श्रेणी मे मैट्रिक परीक्षा पास की।

कालेज मे प्रवेश होने पर आपका पजाब के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री प्रोफेसर रुचिराम साहनी से परिचय हुआ। साहनी महोदय मे यह विशेष गुण था कि वह नवयुवको मे से होनहार छात्रो को चुन लिया करते थे और उन्हे विकास का अवसर देने का भरपूर प्रयत्न करते थे। शान्तिस्वरूप जी का सम्पर्क होने पर उन्होने यह पहचान लिया कि यह नवयुवक किसी दिन प्रसिद्ध विद्वान् बनेगा। कालेज की शिक्षा के दिनो मे शान्तिस्वरूप जी पर प्रोफेसर साहनी का सरक्षा का हाथ सदा बना रहा। वह स्वय भी पढाई मे असाधारण परिश्रम करते थे। अच्छा मार्ग-प्रदर्शन और एकाग्रता से परिश्रम, दोनो का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि शान्तिस्वरूप जी अपने दर्जे मे बहुत आगे रहते थे। कालेज की प्राय. सभी परीक्षाएँ उन्होने प्रथम श्रेणी मे पास की। एम. एस-सी. की परीक्षा आपने 'दयालसिह कालेज' से पास की। विज्ञान में आपकी अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित होकर दयाल-

सिंह् कालेज के ट्रस्टियो ने निश्चय किया कि आपको विलायत जाकर विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति दी जाय। १९१९ में आप लन्दन जाकर वहां की यूनिवर्सिटी के 'सर विलियम रेम्जे इन्स्टीट्यूट' मे अनुसन्धान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रविष्ट हो गए। वहा के प्रोफेसर डोनन आपकी वैज्ञानिक प्रतिभा से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने प्रिवी कौसिल के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अन्वेषण विभाग की ओर से शान्ति-स्वरूप जी को ३०० रुपये मासिक की छात्रवृत्ति दिलवा दी। १९२१ मे आपको लन्दन विश्वविद्यालय की ओर से डी.एस-सी की उपाधि प्राप्त हुई।

अपने देश मे लौटने पर पहले आप बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी मे रसायन के उपाध्याय नियुक्त हुए और फिर १९२४ में आपको पंजाब यूनिवर्सिटी ने प्रान्त की रसायन-शालाओ मे अन्वेषण कार्य का संचालन करने के लिए आमन्त्रित किया। बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी मे डाक्टर भटनागर को पाच सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था, पजाब मे उनकी नियुक्ति बारह सौ पचास रुपये मासिक पर हुई। लाहौर मे आने पर लोगो ने आपको एक मजे-दार बात याद दिलाई कि एफ ए. की रसायन की परीक्षा मे एक बार आप अनुत्तीर्ण हो गये थे। कारण यह कि उससे पहले आपका शरीर अस्वस्थ रहा था। डाक्टर शान्तिस्वरूप का दृष्टान्त उन होशियार छात्रों के लिए आशा का सुन्दर सन्देश था जो कभी विशेष कारणों से किसी एक परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाये। पंजाब में डाक्टर भटनागर ने लगभग दस वर्षो तक रसायन-विभाग की अध्यक्षता की। इन वर्षो मे आपने जो नये-

नये अन्वेपण किये, उनसे देश के शिल्प और उद्योग विभाग को बहुत सहायता मिली। सर गंगाराम, राजा दयाकृष्ण कौल, राजा हरिकृष्ण कौल, सर श्रीराम और सेठ घनश्यामदास बिडला आदि उद्योगपति आपसे निरन्तर परामर्श करते रहते थे। लोहे तथा कृषि-सम्बन्धी उद्योग मे आपने कई ऐसे नये-नये सुझाव दिये, जिनसे उत्पादन मे पर्याप्त उन्नति हुई। आपके अन्वेपणो से तेल के उद्योग मे भी बहुत सहायता मिली। फौलाद और पैट्रोलियम के विदेशी निर्माताओ की एक कम्पनी ने आप-की वैज्ञानिक सहायता से प्रसन्न होकर डेढ लाख रुपये की थैली भेट की जिसे अपने पास न रखकर डा० शान्तिस्वरूप ने पजाब विश्वविद्यालय को दान कर दिया। इस राशि के सूद से विश्व-विद्यालय मे पेट्रोलियम सबधी अन्वेषण के लिए एक स्वतंत्र विभाग स्थापित किया गया और उसमें काम करनेवाले छात्रो को मासिक छात्रवृत्तिया देने की व्यवस्था हुई। लन्दन की उसी कम्पनी ने दो वर्ष बाद डा० शान्तिस्वरूप को परामर्श के लिए निमन्त्रित किया और उपयोगी परामर्श के पारितोषिक रूप मे ढाई लाख रुपये की राशि भेट की। डा० भटनागर ने वह राशि भी अनुसन्धान-कार्य के लिए पजाब विश्वविद्यालय को दे दी। इस कम्पनी ने अपने वार्षिक लाभ मे से डा० भटनागर के लिए कुछ प्रतिशत रायल्टी भी ठहरा दी थी। आपने उसका भी आधा भाग यूनिवर्सिटी को दे दिया। बिडला बन्धुओ ने परामर्श के उपलक्ष मे डा० भटनागर को इक्कीस हजार रुपये की जो भेट दी थी, वह भी आपने विश्वविद्यालय को दे दी। दानशीलता मे डा० भटनागर ने वस्तुत. वैज्ञानिको के सामने एक आदर्श कायम

कर दिया। इन बड़े-बड़े दानो के अतिरिक्त योग्य तथा असहाय विद्यार्थियो को आपसे जो मौन आर्थिक सहायता मिलती थी, उसकी मात्रा तो आपके सिवाय किसी को भी मालूम नही थी। जानकार लोगो का विचार है कि आपके आर्थिक साहाय्य से शिक्षा पाने वाले छात्रो की संख्या सैकड़ों में है।

देश और विदेश मे डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की ख्याति इतनी विस्तृत हो गई कि अब उनका पंजाब प्रदेश मे सीमित रहना असम्भव हो गया। १९४० मे भारत सरकार ने आपको 'बोर्ड आफ इन्डस्ट्रियल एण्ड साइंटिफिक रिसर्च' का डायरेक्टर नियुक्त किया। यूरोप के दूसरे महायुद्ध के कारण विदेशो से रासायनिक तथा उद्योग-संबधी अन्य वस्तुओं का आयात लगभग बन्द हो गया था। इस कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक था कि भारत के उद्योगपतियों को उन सब वस्तुओ के उत्पन्न करने में सहायता दी जाय। इस इन्स्टीट्यूट की स्थापना का यही उद्देश्य था। डा० शान्तिस्वरूप भटनागर इसके डायरेक्टर नियुक्त किये गये। केन्द्र में आकर डा० भटनागर की उपयोगिता और भी अधिक वढ़ गई। आपको देश की औद्योगिक उन्नति करने का जो स्वर्णिम अवसर मिला आपने उसका पूरा लाभ उठाया। आपके अन्वेषणों और परामर्श से देश के शिल्प और उद्योग को उन कठिनाइयों के हल करने मे वहुत मदद मिली, जो विज्ञान मे पिछडे एक देश के सामने आया करती है।

१९४० के पश्चात् डा० भटनागर की ख्याति देश और विदेश के वैज्ञानिको और औद्योगिक क्षेत्रो में निरन्तर वढ़ती गई। भारत का शायद ही कोई ऐसा विश्वविद्यालय हो, जिसने आपको

'आनरेरी' उपाधि द्वारा अथवा विशेप व्याख्यानो के लिए निमन्त्रित करके सम्मानित न किया हो। 'भारतीय विज्ञान काग्रेस' के जुवली अधिवेशन मे आप अध्यक्ष वनाये गये। विदेश की अनेक वैज्ञानिक सस्थाओ ने आपको अपना फैलो निर्वाचित किया। विदेश के वैज्ञानिको का आपके सम्वन्ध में जो मत था, उसका निदर्शन लन्दन की सुविख्यात कैमिकल सोसाइटी के अध्यक्ष प्रोफेसर एफ० जी० डोनन के उस निजी पत्र से मिलता है, जो उन्होने डा० भटनागर को लिखा था—"मै आपको भारत का श्रेष्ठ वैज्ञानिक समझता हूं। सर जेम्स इर्विन की भी यही राय है। मेरी राय मे और आप स्वय भी इसे जानते होगे कि आपके कार्य केवल सिद्धान्तो ही तक सीमित नही है। आप उन्हे व्यावहारिक रूप देने और कार्य-रूप मे परिणत करने मे भी विशेप दक्ष है। आपने अपने सहकारियो की सहायता से अनुसन्धान-कार्य के लिए वहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्वेषण-सस्था का निर्माण किया है। इसका इतना अच्छा सगठन हुआ है और यह आपकी देख-रेख मे इतना अच्छा काम कर रही है कि उसकी तुलना ससार की किसी भी उत्कृष्ट अन्वेषण-सस्था से की जा सकती है।"

डा० भटनागर की देख-रेख मे अन्वेषण-सस्था ने ऐसा सन्तोषजनक कार्य किया कि १९४१ के वजट मे सरकार ने सस्था के लिए १० लाख रुपयो की राशि स्वीकृत की।

इन सव सफलताओ से सन्तुष्ट होकर सरकार ने आपको 'सर' की उपाधि से विभूपित किया।

काग्रेस ने ब्रिटिशकाल मे एक राष्ट्रीय योजना-समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) वनाई थी। डा० भटनागर उसके

प्रमुख सदस्य थे।

राष्ट्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयो की आर्थिक आवश्यकताओं को परखने और उनके शिक्षास्तर की देखभाल के लिए १९५३ मे 'एक यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन' की स्थापना की तो उसके अध्यक्ष डा० शान्तिस्वरूप भटनागर बनाये गये। कुछ समय बाद उस कमीशन को स्थिरता प्रदान करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने संसद् मे एक बिल पेश करने का निश्चय किया तब भी यह समझा जा रहा था कि उसके अध्यक्ष डा० शान्तिस्वरूप भटनागर होगे। परन्तु विधाता को कुछ और ही मजूर था। वह बिल अभी प्रारम्भिक दशा मे ही था कि अपनी वैज्ञानिक योग्यता से मातृभूमि के मस्तकको ऊचा करने वाला यह नर-रत्न १ जनवरी, १९५५ को इस संसार से विदा हो गया। डा० भटनागर के इस अकाल निर्वाण से देश की कई वैज्ञानिक सस्थाएँ ही निर्धन नही हुई बीसियो देश के नौनिहालो की शिक्षा की नौका भी मंझधार मे रह गई, जो डा० भटनागर की मौन सहायता के भरोसे पर ही शिक्षा को पूर्ण करने की आशा रखते थे।

डा० भटनागर की सर्वतोमुखी प्रतिभा का एक प्रबल प्रमाण यह था कि जहां एक ओर आप विज्ञान के प्रामाणिक आचार्य थे वहा उर्दू के अच्छे शायर भी थे। विज्ञान और कविता का सदा से विरोध माना जाता है। डा० भटनागर इसका अपवाद थे। उन्हे उर्दू मे कविता करने का शौक था, इसी कारण प्राय. शौकीन लोग उन्हे उर्दू के मुशायरो मे घसीट ले जाया करते थे। उनकी उर्दू की कविता की सुन्दरता यह थी कि वह प्रायः सरल होती थी। साधारण व्यक्ति भी उसका मज़ा ले सकता था।

आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रमन

: ९ :

आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रमन

कुछ महापुरुषों का भविष्य झूले मे ही प्रकट हो जाता है। उनकी असाधारण प्रतिभा के चिह्न बचपन मे ही सूर्य की किरणो की भाँति चमकने लगते है। भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक, नोबल-पुरस्कार-विजेता और आध्यात्मिक आचार्य डा० चन्द्रशेखर वेंकट रमन ने १२ वर्ष की आयु मे सम्मानपूर्वक मैट्रिक परीक्षा पास की, १४ वर्ष की आयु मे एफ० ए० परीक्षा दी तो पहले दर्जे मे उत्तीर्ण हुए, और १६ वर्ष की आयु मे गणित और विज्ञान जैसे कठिन विषयो मे आदरसहित बी० ए० की परीक्षा मे सफल हुए। उस वर्ष सारी यूनिवर्सिटी मे केवल आप ही थे, जो प्रथम श्रेणी प्राप्त कर सके।

उस आयु मे भी आपके लिए परीक्षाओं को पास करना गौण था, और गणित तथा विज्ञान मे नई खोज करना मुख्य था। आपका दिमाग सदा घटनाओं के मूल कारणो को जानने मे लगा रहता था। आपने १९ वर्ष की आयु मे एम० ए० परीक्षा मे अभूत-पूर्व सफलता प्राप्त की। आप न केवल विज्ञान मे सारे विश्व-विद्यालयों मे प्रथम रहे, उससे पूर्व के उस विषय के सभी उत्तीर्ण छात्रो के प्राप्त अको को मात दे दी। आपकी इस सफलता का एक बडा कारण यह था कि आपकी प्रतिभा सदा उन सच्चाइयों तक पहुचने का यत्न करती, और प्राय. सफल भी हो जाती, जो पश्चिम के वैज्ञानिकों के लिए पहेलियाँ बनी हुई थी।

ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जन्म १७ नवम्बर, १८८८ को दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली नगर मे हुआ था। वेकट रमन के पिता का नाम चन्द्रशेखर अय्यर था। वेकट रमन के जन्म के समय वह स्थानीय हाई स्कूल मे अध्यापक थे। उसके पश्चात् अय्यर महोदय ने भौतिक विज्ञान मे बी० ए० परीक्षा पास की और कालिज मे प्रोफेसर हो गये। वेकट रमन की माता पार्वती-जी ने एक ऐसे परिवार मे जन्म लिया था, जो अपनी धार्मिक प्रवृत्तियो और सस्कृत के पाण्डित्य के कारण दक्षिण भर मे प्रख्यात था। इस प्रकार वेकट रमन ने माता-पिता की गोद मे धर्म और विज्ञान की घुट्टी का पान कर लिया था।

परीक्षाओ मे असाधारण सफलता और अन्वेषणात्मक बुद्धि से प्रभावित और सन्तुष्ट होकर सरकारी अधिकारियो ने यह विचार किया कि युवक वेकट रमन को विज्ञान की अधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विलायत भेजा जाये। और तो सब प्रकार से आप विलायत जाने के योग्य थे, परन्तु डाक्टरी परीक्षा होने पर विदित हुआ कि आपका स्वास्थ्य विदेश-यात्रा और वहा देर तक निवास को नही सह सकेगा। आपको विलायत जाने का विचार छोडना पडा, परन्तु निराश न होकर आपने आगे बढने का एक अन्य उपाय निकाल लिया। विज्ञान मे ऊची उपाधि प्राप्त करने के लिए विलायत जाना आवश्यक था, परन्तु भारतीय अर्थ-विभाग की उच्चतम परीक्षा देने के लिए ऐसी कोई शर्त नही थी। श्री वेकट रमन ने उसी प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षा मे बैठने का निश्चय किया। उस समय आपकी आयु २० वर्ष से भी कम थी। उस परीक्षा मे आपने न केवल सफलता प्राप्त की, सारे भारत मे

आपका पहला स्थान रहा। इतनी छोटी आयु मे ऐसी असाधारण सफलता ने न केवल देशवासियो को, विदेश के विद्वानो को भी चकित कर दिया।

जिस आयु में साधारण युवक महाविद्यालय की परीक्षाओ में उलझे हुए होते है, उसमे श्री वेंकट रमन एम० ए० और अर्थ-विभाग की परीक्षाओ मे असामान्य सफलता प्राप्त करके अर्थ-विभाग में डिप्टी-एकाउण्टैण्ट-जनरल के पद पर नियुक्त हो गये।

आपने अर्थ-विभाग की सरकारी नौकरी दस वर्षो तक की। इस समय मे आप मद्रास, रगून और कलकत्ता आदि कई केन्द्रों में पदारूढ रहे। सब स्थानो पर आपका कार्य अत्यन्त सन्तोषजनक रहा। यही कारण था कि सरकार ने आपको आर्थिक रोगों की सजीवनी बूटी समझ लिया था। जहां कही कोई कठिनाई होती, वही आपको भेज देते थे। इतनी सफलता प्राप्त होते हुए भी अर्थ-विभाग की नौकरी आपके लिए केवल साधन मात्र थी। नौकरी की दिनचर्या पूरी करने के अतिरिक्त आपका शेष सारा समय विज्ञान तथा गणित के रहस्यों के उद्घाटन मे व्यतीत होता था। अवसर मिलते ही आप विश्वविद्यालयो की प्रयोगशालाओ मे पहुच जाते और परीक्षणो का सिलसिला जारी कर देते थे।

आप कई वर्षो तक कलकत्ते के अर्थ-विभाग मे उच्च पदाधि-कारी का कार्य करते रहे। वहां आपको अनुसन्धान का दुर्लभ अवसर मिल गया। वहां भारतीय विज्ञान-परिषद् नाम की एक प्रसिद्ध संस्था थी। भारत के बड़े-बड़े वैज्ञानिक उसके सदस्य थे। एक दिन ट्राम से सफर करते हुए आपको उसका साइनबोर्ड दिखाई दे गया। श्रीवेंकट रमन तो ऐसी संस्था की

तलाश में ही थे। मानो प्यासे को कुआँ मिल गया। आप वही ट्राम से उतर गये और खड़े होकर चिरकाल तक उस साइनवोर्ड को देखते रहे। वह एक ऐसी सस्था की तलाश मे ही थे। वह सोचने लगे कि क्या सचमुच भारत मे ऐसी सस्था है! आप वडी उत्सुकता से संस्था के कार्यालय मे जा पहुंचे। सौभाग्यवश वहां उस समय वंगाल के प्रमुख शिक्षाचार्य सर आशुतोष मुखर्जी, संस्था के मंत्री, डा० अमितलाल सरकार और अन्य वहुत से विज्ञान के विद्वान् उपस्थित थे। आपके वहां पहुंचने पर और अपना परिचय देने पर सभी उपस्थित सदस्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। आपने जव उन्हे अपने मौलिक आविष्कारो का विवरण सुनाया तो उन लोगों की प्रसन्नता प्रेम मे परिणत हो गई। श्री वेंकट रमन भारतीय विज्ञान-परिषद् के सदस्य वना दिये गये।

यह सोने और सुगंध का सवघ विज्ञान के लिए वहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हुआ। सस्था को एक ऐसे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक की आवश्यकता थी, जिसके लिए अनुसन्धान का कार्य नैसर्गिक चीज हो। रिवाज या कर्तव्य पालन के लिए अनुसन्धान एक चीज है और स्वभाव से प्रेरित होकर प्रकृति के रहस्यो तक पहुंचना दूसरी चीज। श्री वेंकट रमन जन्म से ही परोक्षदर्शी वैज्ञानिक थे। परिषद् के सदस्य होने से जहा उन्हे अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार ज्ञान-वृद्धि का अवसर मिला, वहा परिषद् को भी एक ज्ञानयोगी के संसर्ग से यश और प्रतिष्ठा की प्राप्ति हुई।

सर आशुतोष मुकर्जी विद्या के उत्कट प्रेमी होने के साथ-साथ मनुष्यो के पारखी थे। आप कोयले की खान से हीरे निका-

लने की कला मे वहुत निपुण थे। परिचय के समय से ही आपका मन इस युवक वैज्ञानिक मे गड़ गया था। १९१४ में कलकत्ते का साइंस कालिज सर आशुतोष के प्रयत्न से स्थापित हुआ था। उस समय से ही उसके लिए योग्य प्रिंसिपल की तलाश थी। कालेज के प्रबंधकर्ताओं की दृष्टि श्रीयुत वेंकट रमन पर पड़ी। इस नियुक्ति में एक कठिनाई आ गई। कालेज के लिए सर तारकनाथ पालिक ने जो दानपत्र लिखा था, उसकी एक आवश्यक शर्त यह थी कि ऐसे ही व्यक्ति को प्रिंसिपल बनाया जायेगा, जो विलायत से विज्ञान की परीक्षा पास करके आया हो। श्री वेंकट रमन में यह कमी थी। परन्तु उनसे योग्यतर व्यक्ति मिलना असम्भव था। इसलिए ट्रस्ट के सदस्यो ने उस शर्त को स्थगित कर दिया और श्री रमन को साइंस कालेज के प्रिंसिपल-पद पर नियुक्त कर दिया। सरकारी नौकरी मे वेतन अधिक था। कुछ संबंधियों ने आपको यह सलाह दी कि उसे न छोड़ें, परन्तु आपने ज्ञान को धन से ऊँचा स्थान देते हुए लक्ष्मी की उपासना की अपेक्षा सरस्वती की आराधना को अधिक उपादेय मानकर नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। १९२७ ई० के जुलाई मास तक श्रीयुत रमन ने १५ वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय और विज्ञान-परिषद् में अनुसन्धान कार्य का नेतृत्व किया। १५ वर्षो का समय अधिक नहीं है, पर उसमे डाक्टर रमन ने जो मौलिक और उपयोगी आविष्कार किये, वे इतने अधिक है कि वे कई व्यक्तियों के द्वारा १५ से वहुत अधिक वर्षो में होने भी कठिन प्रतीत होते है। श्री रमन के अनुसन्धानों का क्षेत्र वहुत विस्तृत था। सभी दिशाओं मे आपकी पैनी प्रतिभा ने सत्य की खोज मे यात्रा की और चमत्कारिक फल

प्राप्त किये। उनके एक-एक आविष्कार पर अलग-अलग पुस्तकें लिखी जा सकती है। प्रकाश की किरणो का विश्लेषण करते हुए आपने एक विशेष प्रकार की किरणो का अन्वेषण किया, जिन्हे विज्ञान की परिभाषा मे 'रमन किरण' (रमन द्वारा अन्वेषित किरणे) और उनके प्रभाव को 'रमन प्रभाव' इन नामों से निर्दिष्ट किया जाता है। 'रमन प्रभाव' के अन्वेषण से विज्ञान का मार्ग उतना ही सरल हो गया है जितना 'एक्स-किरणो' (X-Ray) के आविष्कार तथा रेडियो एक्टिविटी-सबधी प्रारभिक खोज से हुआ था।

रमन किरणो के अन्वेषण के अतिरिक्त आपके बड़े-बड़े अन्वेषण निम्नलिखित क्षेत्रो मे हुए है —१. शब्द-विज्ञान २. प्रकाश और रग ३. समुद्र-जल का नीला रग ४. किरणे ५. चुम्बकीय अनुसन्धान। अन्य छोटे-छोटे बहुत से अन्वेषणो की सख्या दर्जन से अधिक है। इन परीक्षणों मे विशेषता यह है कि अन्य सभी परीक्षणो का केद्र 'रमन प्रभाव' सबधी अन्वेषण है। विज्ञान मे यह एक नई बात थी। बहुत से प्रश्न जो इससे पूर्व बहुत जटिल समझे जाते थे, रमन प्रभाव के आविष्कार से सरल हो गये। विज्ञान के ससार ने श्री रमन के इस चमत्कारी आविष्कार का बडे आदर से स्वागत किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आपको पहले १९३० के नवम्बर मास मे लन्दन की सुप्रसिद्ध रायल सोसायटी ने 'ह्यूजेज पदक' से सम्मानित किया और फिर उसी वर्ष के दिसम्बर मे ससार का सबसे बडा बौद्धिक पुरस्कार 'नोबल प्राइज' दिये जाने की घोषणा हुई। यह पुरस्कार स्वीडन के प्रख्यात वैज्ञानिक अल्फ्रेड नोबल द्वारा प्रदान

किये गये कोष से प्रतिवर्ष ससार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक को दिया जाता है। प्रतिवर्ष दिये जाने वाले पुरस्कार की मात्रा एक लाख दस हजार रुपये है। यह पुरस्कार समर्पित करने के लिए पुरस्कार देने वाली सोसाइटी ने डाक्टर रमन को स्वीडन की राजधानी स्टाकहॉम मे निमन्त्रित किया। आप सपत्नीक वहा गये और पुरस्कार-वितरण के महोत्सव मे सम्मिलित हुए।

देश और विदेश की शिक्षा और विज्ञान-सवंधी संस्थाओ की ओर से डा० रमन को जिन पदक तथा उपाधियों को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनकी सख्या डेढ़ दर्जन के लगभग है।

इसके अतिरिक्त आप ससार की अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक सस्थाओ के सम्मानित सदस्य एव आनरेरी फैलो भी है। इनमे कुछ के नाम यहाँ दिये जाते हैं —रायल फिलासफिकल सोसाइटी, ग्लासगो, रायल आयरिश एकेडेमी; ज्यूरिच फिजीकल सोसाइटी; ड्यूटशे एकेडमी आफ म्यूनिक, हगेरियन एकेडमी आफ साइसेज; इडियन मैथेमेटिकल सोसाइटी, इडियन कैमिकल सोसाइटी, नेशनल इस्टीट्यूट आफ साइस, इंडिया और इडियन साइस काग्रेस आदि-आदि।

वास्तव मे उपर्युक्त सस्थाओ ने सर रमन की विज्ञान-सेवाओ को स्वीकार करके और उन्हे सम्मानित करके स्वयं अपने आपको गौरवान्वित किया है।

सर वेकट रमन की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह स्वभाव से वैज्ञानिक है। परिस्थितियो से उन्हे सहायता अवश्य मिलती रही है, परन्तु उनके उच्च अन्वेषणो का मुख्य आधार उनकी पैनी प्रतिभा ही रही है। यह नही कि आपको परि-

स्थितियो से सदा सहारा ही मिलता रहा हो। आपकी उन्नति मे सबसे बडा बाधक बुरा स्वास्थ्य रहा है। बहुत छोटी आयु मे असाधारण मानसिक उन्नति वालो को प्राय प्रकृति का यह दण्ड भोगना पडता है। स्वास्थ्य की निर्बलता के कारण ही युवावस्था मे डा० रमन शिक्षा प्राप्त करने विलायत न जा सके। उसके पश्चात् भी समय-समय पर स्वास्थ्य बिगड जाने के कारण आपको लाचार होकर विश्राम लेना पडा, परन्तु अपने मनोबल से सब विघ्न-बाधाओ पर विजय प्राप्त करते हुए आप आगे ही आगे बढते गये, और एक वह दिन आया जब आपकी गिनती ससार के प्रमुख वैज्ञानिको मे होने लगी।

विज्ञान के विशेषज्ञ होने के साथ-साथ इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयो मे भी आपका पाण्डित्य बहुत ऊचे दर्जे का माना जाता है। भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओ के ज्ञाता होने के अतिरिक्त आप यूरोप की भी कई भाषाओ का ज्ञान रखते है। एक सुन्दर बात यह है कि आपके समान आपकी पत्नी भी भारत की सात-आठ भाषाएँ जानती है और साथ ही वीणावादन मे अत्यन्त प्रवीण है।

डा० रमन से मिलने वालो पर उनकी नम्रता और सादगी का बहुत अद्भुत प्रभाव पडता है। पुराने शास्त्रकार मुनियो की भाँति आपका रहन-सहन बहुत ही सादा और तपोमय है। विज्ञान आपके लिए कोई कमाई का साधन नही, अपितु जीवन की उच्चतम साधना है।

: १० :

झांसी की रानी

आप कल्पना कीजिए कि सारा आकाश काले-काले बादलों से आच्छन्न हो, ऊँचे पर्वत की चोटी पर घना अन्धकार छाया हुआ हो, उस समय बादलो मे एक बिजली चमके और अन्तरिक्ष को प्रकाशयुक्त करती हुई पर्वत की चोटी को टक्कर मारकर गिरा दे और इस प्रकार अपने बल और तेज का स्थायी स्मारक बनाकर क्षण भर मे लुप्त हो जाय। जैसा वह दृश्य होगा, वैसा ही दृश्य जब हम झासी की रानी लक्ष्मीबाई का जीवन-वृत्तान्त पढते है, तब आँखों के सामने घूम जाता है। लक्ष्मीबाई सन् १८३५ मे उत्पन्न हुई। १८४२ मे झांसी के महाराज गंगाधरराव से उनका विवाह हुआ। विवाह के दस वर्ष बाद गगाधरराव की मृत्यु हो गई, जिससे लक्ष्मीबाई राज्य की अधिकारिणी बनी। उस अधिकार को अग्रेजी सरकार ने नही माना, इस कारण महारानी लक्ष्मीबाई को झांसी का किला छोडकर महलो मे चला जाना पडा। लगभग चार वर्ष तक राज्याधिकार से वचित होकर उस देवी ने तपस्विनियो की तरह जीवन बिताया। १८५७ मे भारत भर मे विद्रोह की आग भड़क उठी। उस आग की ज्वालाएँ मेरठ से दिल्ली और दिल्ली से कानपुर होती हुई झांसी मे भी पहुंच गईं, जिससे प्रेरित होकर झासी की प्रजा ने वहा के सब अग्रेज अधिकारियो और सिपाहियो को मार डाला और महारानी को महलों से लाकर राजगद्दी पर बिठा दिया। महारानी लक्ष्मीबाई ने राज्य की बागडोर अपने

हाथो मे लेकर दस महीनो तक ऐसा शानदार शासन किया कि अग्रेजी सरकार के पाँव डाँवाडोल हो गये और उसने महारानी को विद्रोही घोषित करके असाधारण सजधज के साथ झासी पर आक्रमण कर दिया। उस आक्रमण का मुकाबला रानी लक्ष्मीबाई ने जिस अलौकिक तेजस्विता के साथ किया, ससार के इतिहास मे उसकी उपमा मिलनी कठिन है। वीरता उसे कहते है, जिसका सिक्का शत्रु भी मान जाएँ। जिन आधा दर्जन भर बड़े-बडे अनुभवी और प्रचण्ड अग्रेज सेनापतियो ने मिलकर उस तेईस साल की युवती से झासी को छीना, उन सभी ने मुक्तकण्ठ से यह बात स्वीकार की है कि क्रान्ति के सब सेनापतियो और योद्धाओ मे से यदि किसी को निर्भयता और वीरता के लिए प्रथम स्थान दिया जा सकता है तो वह झासी की रानी लक्ष्मीबाई है। लक्ष्मीबाई के अनुपम साहस को हम एक चमत्कार कह सकते है। वह अपने से बीस गुना अधिक साधन सम्पन्न शत्रुओ से लडती हुई, रणक्षेत्र मे काम आकर एक ऐसा दृष्टान्त स्थापित कर गई जो भारतवासियो को सदा जीवन का सन्देश सुनाता रहेगा। और यह सब कुछ हो गया कितने दिनो मे ? मृत्यु के समय रानी की आयु केवल तेईस साल की थी। वह उन्नीसवी सदी मे भारत मे छाये हुए अन्धकार को चीरती हुई ब्रिटिश-राज्य रूपी पर्वत के मस्तक पर कडक कर गिरी और उसपर ऐसा निशान करके विलीन हो गई, जो अमिट हो गया।

लक्ष्मीबाई ने एक बहुत साधारण हैसियत के परिवार मे जन्म लिया था। मोरोपन्त महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे, परन्तु पेशवा बाजीराव द्वितीय के पदच्युत होकर

कानपुर मे नजरबन्द हो जाने पर महाराष्ट्र के अन्य सरदारो की तरह मोरोपन्त भी लाचार और दुर्दशाग्रस्त होकर बनारस मे छ: सौ रुपये वार्षिक पर एक नौकरी कर रहे थे। उनकी पत्नी का नाम भगीरथीबाई था। उनके यहा १६ नवम्बर, १८३५ को जो लडकी उत्पन्न हुई उसका नाम मनुबाई रखा गया। पति के कुल मे जाकर मनुबाई का नाम लक्ष्मीबाई हुआ। मनुबाई जन्मकाल से ही असाधारण लक्षणो से युक्त प्रतीत होती थी। उसकी आँखो की चमक और हाथ की रेखाओ को देखकर ज्योतिषी लोग प्रारम्भ से ही यह भविष्यवाणी करने लगे थे कि यह कन्या किसी राजा की रानी बनेगी। जब बाजीराव द्वितीय की मृत्यु पर धूधूपन्त नाना साहिब उनके उत्तराधिकारी घोषित हुए, तब मोरोपन्त अपने परिवार के साथ कानपुर में पेशवा के निवास-स्थान ब्रह्मावर्त मे रहते थे। बाजीराव छोटी-सी चचल कन्या मनुबाई को बहुत प्यार करते थे। उन्होंने उसका प्यार का नाम 'छबीली' रख छोडा था, और उसकी वीर-प्रवृत्तियो को देखकर यह आज्ञा दे दी थी कि मनुबाई को भी नाना साहब के साथ ही शस्त्र-विद्या सिखलाई जाए। दोनो की रण-शिक्षा साथ-साथ होने लगी।

उस समय की एक घटना प्रसिद्ध है। एक दिन नाना साहब हाथी पर सवार होकर घूमने को निकले। लक्ष्मीबाई बच्ची थी, वह भेद की बात क्या जाने, उसने आग्रह किया कि 'मै भी हाथी पर चढकर घूमने जाऊगी।' नाना साहब टालकर चले गये। पर मानिनी कन्या रोने लगी। पिता ने दुखी होकर कहा—"अभागिनी, यदि हाथी पर ही सवार होना था तो किसी राजघराने मे जन्म लिया होता। तेरे भाग्य मे विधाता ने दु.खो का हाथी बॉध दिया

है तो हाथी की सवारी कैसे करेगी ?"

मनुबाई ने हार न मानकर साभिमान उत्तर दिया—

"हा, मेरे भाग्य मे एक छोडकर दस-दस हाथी बदे है। मै हाथी पर अवश्य बैठूगी।"

मनुबाई की यह भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध हुई। पेशवा की अनुमति से उसका विवाह झासी के महाराज गगाधरराव से हो गया। जब यह विवाह-सम्बन्ध हुआ तो गगाधरराव को अभी राज्य के पूरे अधिकार प्राप्त नही हुए थे। यह भाग्य की ही बात थी कि विवाह के सात मास पीछे ही उन्हे अग्रेजी सरकार से राज्य के पूरे अधिकार प्राप्त हो गये, जिससे मनुबाई लक्ष्मीबाई के रूप मे दस-दस हाथियो की स्वामिनी बन गई।

१८५१ मे गगाधरराव के पुत्र उत्पन्न हुआ। राज्य भर मे पुत्रोत्सव बडी धूमधाम से मनाया गया, परन्तु दुर्भाग्यवश वह तीन मास से अधिक जीवित न रह सका। गगाधरराव का स्वास्थ्य पहले से ही ठीक नही था। पुत्र-वियोग की चोट से उनकी दशा बहुत बिगड गई, जिससे चिन्ता होने लगी कि यदि उनका शरीरान्त हो गया तो राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा ? मन्त्रियो और बन्धुओ ने परामर्श दिया कि रिश्ते के किसी होन-हार बालक को दत्तक बना लिया जाये। दत्तक को गोद लेने के लिए अग्रेजी सरकार की अनुमति आवश्यक थी, अत महाराज की ओर से बुन्देलखण्ड के असिस्टेण्ट पोलिटिकल एजेण्ट मेजर एलिस के पास एक पत्र भेजा गया, जिसमे आनन्दराव नाम के एक सम्बन्धी बालक को गोद ले लेने की सूचना देते हुए सरकार की अनुमति मागी गई थी। भारत मे उस समय डलहौजीशाही

का प्रारम्भ हो चुका था। लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल बनकर भारत आने के समय यह निश्चय कर चुका था कि उसे इस देश की रियासतो को समाप्त करके अग्रेजी राज्य में विलीन कर लेना है। उसे जहा और जब भी अवसर मिला वह किसी न किसी ढग से रियासतो को तोडकर उनके शासको को पेशनजीवी बनाता गया। झासी के महाराज का आवेदनपत्र भी उसी के पास पहुंचा। उसनें पूर्वनिश्चित नीति के अनुसार दत्तक गोद लेनें की अनुमति देने से इन्कार कर दिया। यह पत्र-व्यवहार चल ही रहा था कि सन् १८५३ के नवम्बर मास मे महाराज गगाधरराव की मृत्यु हो गई। उस समय महारानी लक्ष्मीबाई की आयु अठारह वर्ष की थी। ऐसी छोटी आयु मे सिर पर इतना भारी दु ख का पहाड टूटने पर साधारण स्त्री की हिम्मत टूट जाती है। महारानी को दु ख तो बहुत हुआ, परन्तु वह शीघ्र ही सभल गई और राजकाज को सभालने का यत्न करने लगी। महारानी ने फिर एक बार यत्न किया कि गोद लिये हुए दत्तक बालक को महाराजा का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जाय परन्तु लार्ड डलहौजी अपने हठ पर कायम रहा। उसने फैसला किया कि झासी का राज्य अग्रेजी सल्तनत का भाग बना दिया जाय, और महारानी लक्ष्मीबाई को पाच हजार रुपया वार्षिक पेशन देकर महलो मे रहने की अनुमति दे दी जाय। किले पर अग्रेजी सेना का अधिकार रहे। यद्यपि यह आज्ञा सर्वथा अन्यायपूर्ण थी, तो भी लाचार होकर महारानी को स्वीकार करनी पडी। वह किला छोडकर महलो मे तपस्विनी विधवा की तरह रहने लगी।

झासी पर अग्रेजो का अधिकार हो गया। पुराने अधिकारियो

और सिपाहियो को नौकरी से अलग करके उनके स्थान पर या तो गोरो की भर्ती कर ली गई अथवा अग्रेज-भक्त हिन्दुस्तानी नियुक्त कर लिये गये। पाच हजार रुपये वार्षिक मे महारानी का खर्च चलना सर्वथा असम्भव था, इस कारण महारानी ने सरकार से प्रार्थना की कि राज्य के कोष मे विद्यमान बीस लाख रुपये में से कम से कम एक लाख रुपया उन्हे खर्च के लिए दे दिया जाय तो उनका काम चल जायेगा। इस पर उत्तर मिला कि महाराज ने जिस बालक को गोद लिया था, वह धन बालिग होने पर उसी को मिल सकता है, अन्य किसी को नही। वह बीस लाख रुपया सरकारी खजाने मे जमा कर लिया गया।

जिस समय असिस्टेट पोलिटिकल एजेण्ट ने महारानी को किला छोडने का हुक्म सुनाया तो उनके दिल पर गहरा आघात पहुचा। आखो से आसुओ की धारा बह निकली, जिन्हे छुपाने के लिए एजेण्ट से दूसरी ओर मुह करके महारानी ने स्पष्ट शब्दो मे दृढता से कहा—"मैं अपनी झासी दूगी नही।"

हृदय मे झासी को न देने का सकल्प छिपाए हुए महारानी ने तीन वर्ष तक महलो मे तपश्चर्या की। १८५७ के मई मास मे मेरठ की छावनी मे सिपाही-विद्रोह की वह चिनगारी प्रकट हुई जो शीघ्र ही सशस्त्र क्रान्ति की अग्नि के रूप मे देश भर मे फैल गई। एक शहर से दूसरे शहर मे और एक प्रदेश से दूसरे प्रान्त मे होती हुई उसकी ज्वालाएँ जून मास के अन्त मे झासी मे भी जा पहुची। महारानी महलो में घटना-चक्र की प्रतीक्षा ही कर रही थी कि झासी की प्रजा अग्रेजो पर टूट पडी। विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् बहुत से अग्रेज अफसरो ने इस बात को स्वीकार किया

था कि विद्रोही प्रजा ने उस समय अग्रेजो तथा उनके पिट्ठुओ पर जो प्रहार किये, उनमे महारानी का कोई हाथ नही था। महारानी को तो उन घटनाओ का तब पता लगा, जब अपनी महारानी पर हुए अत्याचारो से विक्षुब्ध भारतीय सिपाहियो और झांसी के प्रजाजनों ने वहां के अग्रेजो और उनके समर्थको का पूरा सफाया कर दिया।

झासी मे अग्रेजी राज्य का अन्त हो जाने पर नागरिकों और सिपाहियो का एक प्रभावशाली शिष्टमण्डल महारानी की सेवा मे उपस्थित हुआ। शिष्टमण्डल ने किले की चाबियाँ महारानी के चरणो मे रखकर प्रार्थना की कि आप किले मे पधारकर राज्य का शासन अपने हाथो मे ले। महारानी ने उस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। राज्य भर मे मुनादी करा दी गई कि महारानी लक्ष्मीबाई ने झासी का शासन अपने अधिकार मे ले लिया है।

महारानी लक्ष्मीबाई को स्वतन्त्र रूप से झासी पर शासन करने का अवसर केवल दस महीनो तक मिला। उसके पश्चात् अग्रेजी सेना बरसाती बादलो की तरह चारो तरफ से उमडकर झासी पर बरसने के लिए पहुच गई। तब महारानी को शासन का काम मन्त्रियो पर छोडकर तलवार हाथ मे ले लेनी पडी। बीच के दस महीनो मे लक्ष्मीबाई ने जिस दूरदर्शिता और चातुरी से शासन किया, उसकी शत्रु और मित्र सभी लेखकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। अपने धार्मिक नित्य कर्मो का विधिवत् पालन करते हुए वह प्रतिदिन प्रजा की शिकायते सुनती थी, न्यायासन पर बैठती थी, नगर का दौरा करके अपनी आखो से प्रजा की दशा को देखती थी और इन सब कार्यो के अतिरिक्त अग्रेजो के होने वाले

आक्रमणो से राज्य की रक्षा के लिए सैन्य-सगठन और मोर्चाबन्दी की व्यवस्था भी स्वय करती थी। उस समय आप प्राय मर्दाने वेश मे घोडे पर सवार होकर किले के विशेष स्थानों पर पहुचती और अपने सामने मोर्चो को मजबूत बनवाकर उन पर तोपे चढवाती थी।

महारानी के प्रजा-प्रेम का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। एक दिन महारानी देवी-दर्शन करके मन्दिर से लौट रही थी। रास्ते मे बहुत से गरीब लोग इकट्ठे हो गये और हल्ला करने लगे। महारानी के पूछने पर उन्होने बतलाया कि हमारे पास कपडे नही है, जाडे का मौसम है, जिसमे हमे शीत बहुत लगता है। महारानी उन्हे यह आश्वासन देकर दरबार मे आ गई कि शीघ्र ही इस की व्यवस्था की जायेगी और आज्ञा दी कि शहर मे जितने दर्जी है वे सब रुईदार फतूहिया और कनटोपें सिलने के लिए बिठा दिये जाये। चार दिन तक कपडे तैयार होते रहे, पाचवे दिन ढिढोरा पिट गया कि जिसके पास गरम कपडा न हो वह सायकाल के समय राज-महल के सामने जाकर कपडे ले सकता है। उस दिन दो हजार व्यक्तियो को एक-एक फतूही, कनटोपा और कम्बल बॉट दिये गये। और साथ ही सब को भोजन भी कराया गया। इस तरह दृढता और उदारता से दस मास तक उस वीरागना ने झासी का मातृवत् शासन किया।

१८५७ के अन्त मे, राज्य-क्रान्ति के युद्ध मे, अग्रेजो का पलडा जो भारी होना शुरू हुआ तो भारी ही होता गया। दिल्ली, बनारस, कानपुर आदि नगर कुछ महीनो तक स्वतन्त्र रहकर फिर परा-धीनता की जजीरो मे बध गये। अन्त मे झासी की बारी आई।

यद्यपि तब तक महारानी लक्ष्मीबाई ने कोई ऐसा कार्य नही किया था, जिसे राजद्रोह का नाम दिया जा सके। यह निश्चित बात है कि जून के महीने मे झासी मे रहने वाले गोरो का जो सहार हुआ, उसमे महारानी का कोई हाथ नही था। स्वय अग्रेज अफसरों ने यह बात स्वीकार की थी। जब झांसी मे किसी तरह का शासन न रहा, तब महारानी ने प्रजा के सरक्षण का बोझ अपने कन्धों पर ले लिया। यह भी प्रमाणित है कि महारानी ने राज्य संभाल लेने पर उसकी सूचना देने के लिए पोलिटिकल एजेण्ट को कई पत्र भेजे थे, जो नत्थेखा नाम के एक महाराज के विरोधी सरदार ने रास्ते मे ही रोक लिये। परन्तु अग्रेज अधिकारी उस समय दोषादोष के विवेक से शून्य हो गये थे। उनका तो अपना पाप पुकार रहा था। उनके अन्दर से आवाज उठती थी कि हमने लक्ष्मीबाई का राज्य छीना है, वह हम से शत्रुता अवश्य करेगी।

१८५७ के अन्त मे गवर्नर-जनरल की आज्ञा से बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने की विशाल योजना बनाई गई। विलायत से सर ह्यू रोज नामक विशेष अनुभवी अफसर को बुलाकर झासी पर आक्रमण करने वाली सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया। ह्यू रोज सितम्बर मे भारत पहुचा और हर प्रकार से लैस होकर, लगभग साठ हजार सैनिको की सेना के साथ बुन्देलखण्ड के विद्रोहियो का दमन करने के लिए सितम्बर के महीने मे मध्यप्रदेश के मुख्य नगर सागर की ओर रवाना हुआ। क्रान्ति के केन्द्र छोटे-छोटे टुकडो मे बिखरे हुए थे। अग्रेजो की महती सेना साधन-सम्बल-युक्त और सुनियन्त्रित थी। फलत सर ह्यू रोज की सेना विद्रोह के केन्द्रों सागर, स्योहोट आदि को जीतती हुई मार्च के महीने

मे झासी के समीप पहुँच गई।

प्रारम्भ मे तो महारानी को यह निश्चय नही हुआ कि अग्रेजी सेना का यह भारी घटाटोप झासी को जीतने के लिए है। वह अपने दिल मे समझ रही थी कि मैने तो अग्रेजो के प्रति कोई विद्रोह का काम नही किया, तब मुझ पर आक्रमण क्यो होगा? परन्तु जब अग्रेजी सरकार की सेनाएँ वेतवा नदी को पारकर झासी की सीमाओ के समीप पहुच गई, तब उन्हे अग्रेजो के मन्सूबो का भान हो गया। महारानी ने इतिकर्त्तव्यता पर विचार करने के लिए झासी के सरदारो की सभा बुलाकर उनके सामने यह प्रश्न रखा कि अग्रेजो से लडा जाये या उनके पास अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेज दिया जाय। कुछ सरदारो का मत था कि अधीनता स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है। महारानी उनसे सहमत नही हुई। उन्हे विश्वास था कि अधीनता स्वीकार कर लेने पर भी अग्रेज उन्हे स्वतन्त्र नही छोडेगे। उस वीरागना ने हार मानकर बन्दी बनने की अपेक्षा लडकर विजय या वीरोचित्त मृत्यु मे से किसी एक को उपलब्ध करने का निश्चय किया। झासी मे उस समय छ बडी-बडी तोपे थी। उनके नाम थे—गर्गज, भवानी शकर, कडक, बिजली, घनगर्ज और नालदार। महारानी ने स्वय खडी होकर अपने सामने उन तोपो को किले की दीवारो पर ऐसे ढग से रखवा दिया कि उनका मुँह आक्रान्ताओ की ओर रहे। २३ मार्च को अग्रेजी सेना ने झासी पर आक्रमण का श्रीगणेश कर दिया। पहले छ दिन तक तोपो की लडाई रही। महारानी के पास बहुत अच्छा निशाना लगाने वाले मुसलमान गोलन्दाज थे। तोपे भी बहुत जबर्दस्त थी। पहले दो-तीन दिन तक तो झासी की तोपो

के मारे अग्रेज सेनाओ की प्रगति बिलकुल बन्द-सी रही। परन्तु जब रात के समय अन्धेरे मे अग्रेजी सेनाओं ने भी अपनी तोपे सामने की पहाड़ियो पर चढा ली, तो लडाई बराबर की हो गई। दोनो की स्थिति मे भेद इतना था कि अग्रेजों के पास अधिक और बढिया तोपे थी और वे खुले स्थान मे होने के कारण स्थिति मे परिवर्तन कर सकते थे। उधर झासी घेरे मे थी। अंग्रेजों की तोपों के निशाने ठीक ठिकानो पर लगकर किले को हानि पहुचा रहे थे। इतने दिनो तक तोपो की लडाई न चलती, यदि महारानी लक्ष्मी-बाई जैसी चतुर और वीर सेनानी उनका सचालन न कर रही होती। अग्रेज सेनापति यह देखकर चकित हो जाते थे कि वे जिस तोप को आज चुप करा देते थे, रात ही रात मे वह तोप किले के दूसरे बुर्ज पर पहुच जाती और वहा से दूसरे दिन प्रात.काल गोले बरसाने लगती। वह लोग सफेद घोडे पर सवार महारानी को प्राय· किले की दीवारो पर घूम-घूमकर सेना-सचालन करते देखते थे। निशाना लगाकर गोलिया भी चलाते थे, परन्तु मानो कोई दैवी कवच महारानी की रक्षा कर रहा था।

छ दिन तक निरन्तर परिश्रम करके अग्रेजो की तोपों ने किले की दीवारो मे कई ऐसे छेद कर दिये, जिनमे से अन्दर घुसने का रास्ता बनाया जा सकता था। सर ह्यू रोज अगले दिन किले पर आक्रमण करने की योजना बना ही रहा था कि एक नई मुसीबत खडी हो गई। प्रसिद्ध विद्रोही सेनापति ताँतिया टोपे एक बड़ी सेना लेकर झांसी की सहायता के लिए आ पहुचा। अंग्रेजी सेना के दो दिन ताँतिया की सेना को हटाने मे लग गये। साधनों की कमी के कारण क्रान्तिकारियो की सेनाएँ देर तक खडी न रह सकी

और झासी से वारह-तेरह मील दूर तक पीछे हट गईं । इस प्रकार वाहर से निश्चिन्त होकर २ अप्रैल के प्रात काल सर ह्यू रोज ने अपनी सेनाओ को झासी के किले पर चारो ओर से आक्रमण करने का आदेश दे दिया ।

उस समय से अग्रेजी सरकार की सेनाओ का महारानी लक्ष्मी-वाई की सेनाओ से जो सग्राम शुरू हुआ, वह १८ जून तक जारी रहा। उस सग्राम का वृत्तान्त इस छोटी-सी जीवनी मे देना असम्भव है । उसकी एक-एक घटना इतनी रोमाचकारिणी है कि उसका थोडे शब्दो मे वर्णन करना असम्भव है । यहा यही सम्भव है कि उस सग्राम के घटनाचक्र को सक्षेप से लिखकर उसमे महारानी ने जिस असाधारण वीरता और चतुरता का प्रदर्शन किया, उसका थोडा-सा उल्लेख कर दिया जाय ।

३ अप्रैल को अग्रेज सेनाओ का जो आक्रमण आरम्भ हुआ, वह दोपहर तक तो कुछ रुका रहा, परन्तु उसके पश्चात् कई रास्तो से अग्रेज सिपाही शहर के अन्दर घुस गये । उस समय स्वय महा-रानी तलवार हाथ मे लेकर मैदान मे उतरी और लगभग डेढ हजार सिपाहियो को साथ लेकर अग्रेज सेनाओ पर टूट पडी । वह आक्रमण ऐसा भयानक था कि पहले तो अग्रेज सिपाहियो के पाव उखड गये, परन्तु पीछे से और हजारो सिपाही अन्दर घुस आये । उस बाढ के सामने महारानी को रुक जाना पडा । तव स्थिति को देखने के लिए किले की दीवार पर चढ गई जहाँ से उनकी दृष्टि अग्रेज सैनिको द्वारा नष्ट की जाती हुई अपनी झासी पर पडी तो उनके साथियो ने पहली बार उनकी आखो मे आँसू देखे । एक बार तो वह सहम-सी गई, परन्तु शीघ्र ही सभल गई और इस सकल्प

के साथ दीवार से उतर आई कि यदि इस समय झासी को छोड़ना भी पडे तो फिर लौटकर झासी को शत्रुओ के हाथ से निकालूँगी।

महारानी लक्ष्मीबाई ने दो सौ सिपाही साथ लिये और पूरा सिपाहियाना वेश पहनकर घोडे पर सवार हो गईं। उस समय उनके हाथ मे तलवार थी और पीठ पर एक चादर से पुत्र दामोदर बंधा हुआ था। चारो ओर अग्रेजो का घेरा था, केवल एक उत्तरीय द्वार खाली था। उससे होकर महारानी साफ निकल गईं। महारानी के ग्यारह दिन के युद्ध और इस प्रकार साफ निकल जाने का अग्रेज सेनापति ह्यू रोज पर ऐसा प्रभाव पडा था कि उसके मुँह से यह स्मरणीय वाक्य निकल गया—

"The Rani was the bravest and the best military leader of the rebels"

अर्थात् रानी विद्रोहियो मे से सबसे अधिक वीर और सेना-सचालन मे कुशल सेनानी थी। यह तो अधूरा सत्य था। यदि ह्यू रोज यह कहता कि रानी अपने समय के अग्रेज और भारतीय दोनो ओर के सेना-सचालको मे सबसे अधिक निर्भय और वीर थी, तो पूरा सत्य होता।

महारानी के कालपी की ओर प्रयाण करने के पश्चात् अग्रेज सिपाहियो ने झासी मे जो लूट-मार मचाई, उसने चगेजखा और तैमूर के अत्याचारो को मात कर दिया। सात दिन तक किला, महल और मन्दिर, सबको समान रूप से लूटा गया तथा सिपाहियो और नागरिकों, सबकी समान रूप से हत्या की गई।

जब अंग्रेज सेनापति को समाचार मिला कि पछी उड गया, तो कुछ समय तक तो वह स्तब्ध रह गया। फिर उसने लेफ्टिनेंट

बाकर को आज्ञा दी कि रानी का पीछा करके उसे गिरफ्तार करो। पीठ पर पुत्र को लादे हुए अकेली रानी आगे-आगे और शिकारी दल पीछे-पीछे। उस साहसिक दौड ने न जाने कितने कवियो और चित्रकारो की प्रतिभा को जाग्रत किया है। महारानी का तेजस्वी सफेद घोडा सरपट भागा जा रहा था, फिर भी महारानी का खड्ग निरन्तर अपना काम कर रहा था। जो गोरा सिपाही पास आता, एक ही बार मे ठण्डा हो जाता। अन्त मे स्वय बाकर भी महारानी के वार से घायल हो गया तो शिकारियो की हिम्मत टूट गई। वे अपना-सा मुँह लेकर झासी वापिस चले गये।

महारानी २४ घण्टो तक निरन्तर घोडे की सवारी करती हुई, १०२ मील की यात्रा तय करके कालपी जा पहुँची, जहा नाना साहब के भाई राव साहब और ताँतिया टोपे आदि क्रान्तिकारी नेता पहले से पहुचे हुए थे। कालपी मे महारानी के पहुचने पर मानो आशा का प्रभात आ गया। वह लोग पराजय से पस्त होकर निराश-से हो रहे थे कि पराजय मे भी विजयिनी लक्ष्मीबाई के पहुचने पर उनके हृदय उछल पडे। परस्पर परामर्श से निश्चय हुआ कि युद्ध जारी रखा जाये। सर ह्यू रोज ने जब सुना कि रानी कालपी पहुच गई, तो उसने अपनी सेनाओ का मुँह उधर मोड दिया।

मई के अन्तिम दिनो मे अग्रेजी सेना कालपी के निकट पहुची। विद्रोहियो की सेना ने दो-तीन स्थानो पर उसे रोकने का यत्न किया परन्तु सफलता न हुई। कालपी मे खूब जमकर लड़ाई हुई। यो तो भारतीय सेना मे बडे-बडे नामी नेता थे। राव साहब तो आधे पेशवा ही समझे जाते थे, तातिया टोपे

भी विद्यमान् थे और उनकी सेना भी थी। परन्तु असली युद्ध तो अतुल-साधन-सम्पन्न अंग्रेजी सेना और दो-ढाई सौ सिपाहियों की अग्रणी खड्गहस्ता महारानी के बीच हुआ। वह तलवार चलाती हुई जिधर निकल जाती, उधर शत्रुओं मे कुह-राम मचा देती। उस अकेली के हाथों से सैकडो शत्रु धराशायी हुए परन्तु जब राव साहब और तातिया टोपे जैसे अग्रणी इस निश्चय पर पहुच गये कि अब कालपी से निकल जाने में ही भला है तो महारानी को भी उनके साथ जाना पड़ा। कालपी को अंग्रेजों के कब्जे मे छोड़कर वे लोग ग्वालियर की ओर रवाना हो गये।

ग्वालियर से ४६ मील की दूरी पर गोपालपुर नामक एक शहर था। विद्रोही नेता वहां एकत्र होकर भावी कार्यक्रम की योजना बनाने लगे। राव साहब सर्वथा निराश थे। शेष नेताओ की आखो के आगे भी अन्धकार-सा छाया हुआ था। एक लक्ष्मी-बाई थी, जिनकी अन्तरात्मा हार मानने से इन्कार करती थी। उन्होंने परामर्श दिया कि एक बार और सारी शक्ति लगाकर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। सिपाही-विद्रोह के अंग्रेज इतिहास-लेखक मि० मैलिसन ने इस परामर्श का वृत्तान्त देते हुए लिखा है कि "केवल चौथे विद्रोही नेता (महारानी लक्ष्मी बाई) मे ही इतनी प्रतिभा, ऐसी साहसिकता और इस प्रकार की अन्तिम बार कुछ कर गुज़रने की भावना भी थी कि वह किसी महान् कार्य को करने की योजना बना सकता था।" महारानी ने सलाह दी कि किसी प्रकार ग्वालियर के किले पर अधिकार कर लिया जाय। वह किला सुरक्षा की दृष्टि से बहुत बढिया और लग-

भग अभेद्य समझा जाता था। महारानी के साहस ने अन्य नेताओ के हृदयो मे भी साहस का सचार कर दिया। ग्वालियर को लेने का मनसूवा पक्का करके सिन्धिया की सेनाओ को अपने पक्ष मे करने के लिए तातिया टोपे को गुप्त रूप से भेजने का निश्चय हुआ। तातिया टोपे साधारण सिपाही की स्थिति से वढता-वढता सेनानी के पद तक पहुचा था। वह साधारण सैनिको से भली प्रकार परिचित था। चुपचाप ग्वालियर पहुच कर तातिया ने सिन्धिया के अधिकतर मराठा सिपाहियो को अपने पक्ष मे कर लिया। यह सूचना मिल जाने पर क्रान्तिकारी दल ने ग्वालियर पर चढाई कर दी।

विद्रोही दल के ग्वायिलर की ओर प्रयाण के समाचार ने अग्रेजो के उपनिवेश मे तहलका-सा मचा दिया। वे जानते थे कि यह सारा काण्ड झासी की रानी का तैयार किया हुआ है। फिर एक वार दात पीसकर सर ह्यू रोज ने भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए नये युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी।

ग्वायिलर को लेने मे नेताओं को अधिक कठिनाई का सामना नही करना पडा। अग्रेज अधिकारी ग्वालियर के विद्रोहियो के हाथ मे जाने से कितना डरते थे, इसका अनुमान उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिग के इन शब्दो से लग सकता है—"If the Sindia joins mutiny, I shall have to pack off tomorrow." अर्थात्, यदि सिन्धिया भी विद्रोह मे शामिल हो गया तो मुझे भी कल विलायत जाने के लिए अपना सामान वाध देना पड़ेगा। ग्वालियर के ऐसे विपम दुर्ग को विद्रोही नेताओ ने केवल एक दिन की साधारण-सी लडाई से जीत लिया।

यह इस बात का सबूत था कि उस समय सामान्य रूप से भारत-वासियो के दिल विद्रोह के साथ थे। जयाजीराव सिन्धिया कायर नही था। उसकी सेनाएँ भी कम नही थी। परन्तु जब उसकी अपनी सेनाएँ ही बिगड उठी तो उसकी हिम्मत हार गई। सफलता का सेहरा यहां महारानी के सिर पर ही बंधा। युद्ध के अन्तिम भाग मे एक ऐसा समय आया, जब सिन्धिया की तोपो से विद्रोही सेना के पाव उखडने लगे। यह देखकर महा-रानी क्षुब्ध हो उठी और केवल ढाई-तीन सौ सिपाहियो के साथ शत्रु-सेना पर टूट पडी। उनके आक्रमण के वेग से सिन्धिया की सेनाये ऐसी डर गई कि अपनी तोपे छोड़कर तितर-बितर हो गई। अब सिन्धिया के पास सिवाय इसके कोई चारा न रहा कि सग्राम-भूमि से हटकर ग्वालियर से भाग निकलता। उसने वही किया। ग्वालियर का अभेद्य समझा जाने वाला किला, वशपरम्परा से एकत्र किया हुआ अटूट खजाना और सब प्रकार का बढिया युद्ध का सामान प्राप्त हो जाने से क्रान्ति के नेताओं की आशाएँ फिर एक बार हरी हो गई।

क्रान्ति के सब नेताओ पर इस सम्भावित सफलता का एक-सा असर नही हुआ। जहा भविष्य मे आने वाले सघर्ष का विचार करके महारानी लक्ष्मीबाई किले की सुरक्षा की योजना मे लग गई, वहा राव साहब के मन में यह भावना उठी कि क्यो न विधिपूर्वक राज्याभिषेक करके पेशवा की राजगद्दी पर बैठा जाय? तॉतिया टोपे को भी यह विचार पसन्द आया। तद-नुसार १८५८ की तीसरी जून को ग्वालियर के फूलबाग में धूमधाम से पेशवा का राज्यारोहण सम्पन्न हुआ। उस

प्रसन्नता के अवसर पर कोष का वह पचास लाख रुपया जो युद्ध की तैयारी मे खर्च होना चाहिये था, पुरस्कार के रूप मे बाटा गया, तोपो की सलामी दी गई, ब्रह्मभोज हुए और अन्त मे मुजरो और तमाशो का बाजार गरम हो गया। महारानी इन सब दृश्यो को देखकर दिल ही दिल मे जल रही थी, वह अभिषेक के किसी समारोह मे सम्मिलित नही हुई। जब राग-रग का जोर बहुत बढने लगा तब महारानी ने पेशवा के दरबार मे पहुचकर सब साथियो को कठोर चेतावनी देते हुए आने वाले सकटो के लिये तैयार होने की प्रेरणा की। बहुत से लेखकों ने लिखा है कि वह कठोर चेतावनी भी बहरे कानो पर पडी। प्रसन्नतासूचक धूमधाम जारी रही।

उधर अग्रेजी सरकार की विशाल सेना आधी की तरह ग्वालियर की ओर बढती आ रही थी। लगातार दस दिन तक कूच करके सर ह्यू रोज का दल ग्वालियर की मुरार छावनी के समीप पहुच गया। मुरार उस समय विद्रोही सेनाओ के हाथ मे था। पेशवा-पद पर आसीन राव साहब और उसके सेनापति तातिया टोपे का कर्तव्य था कि वे दृढता से मुरार की रक्षा करते। वह ग्वालियर का द्वार था। परन्तु पेशवा तो राज्यारोहण के आमोद-प्रमोद मे लगे हुए थे, पहले से कोई तैयार न होने पर ऐन समय पर जागने का कोई फल न निकला। केवल दो घटो की साधारण-सी लडाई करके अग्रेज सेना ने मुरार पर अधिकार कर लिया। ग्वालियर के युद्ध के पहले दिन महारानी अपने प्रमुख सेनापति राव साहब के आदेश की प्रतीक्षा करती रही।

मुरार के हाथ से निकल जाने पर पेशवा की नीद टूटी।

अब उन्हें महारानी की याद आई।

पेशवा की ओर से तातिया टोपे ने फूलवाग मे जाकर महारानी के सामने अपनी पहले दिन की भूल के लिए खेद प्रकट करते हुए दूसरे दिन लडाई की कमान सभालने की प्रार्थना की। महारानी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। वह अनुभव कर रही थी कि ग्वालियर की लड़ाई न केवल उनकी अपितु सारे विद्रोही दल की अन्तिम लड़ाई होगी। यदि वह हार गये तो सब समाप्त हो जायगा और यदि जीत गये तो सम्भव है देश स्वाधीन हो जाय। पेशवा का सन्देश पाकर महारानी उठ खड़ी हुई, और जी-जान से दूसरे दिन के युद्ध की सज्जा मे लग गईं।

१८ जून की लडाई मे पलडा वरावर रहा। अग्रेजी तोपखाने से महारानी के तोपखाने की और सिपाहियो से सिपाहियों की भिड़न्त जारी रही। उस सारे दल के आगे मर्दाना वेश मे अपने सफेद घोडे पर सवार महारानी तलवार से शत्रुओ का सहार करती हुई सारे रणक्षेत्र मे दिखाई देती थी। वह जिधर निकल जाती, उधर ही अग्रेजी फौज मे भगदड़ मच जाती। सायकाल तक मारकाट चलती रही। उस समय दोनो पक्ष ही थक चुके थे। युद्ध रात भर के लिए स्थगित कर दिया गया। महारानी का घोड़ा दिन भर सवारी देकर न केवल थक गया था, वह घायल भी हो गया था। दूसरे दिन के लिए महारानी ने सिन्धिया के अस्तवल से दूसरा घोडा मगा लिया और अपने घोडे को एक दिन की छुट्टी दे दी। कभी-कभी वहुत छोटी-सी वात बहुत भारी परिणामो का कारण बन जाती है। अगले दिन जो कुछ हुआ, इस घोडो के परिवर्तन का

उस पर गहरा असर पडा।

अग्रेज सेनापति इस परिणाम पर पहुच चुके थे कि सारे विद्रोह की जान रानी लक्ष्मीबाई है। वे देखकर दातो तले अगुली दबाते थे कि यह नारी न थकती है, न डरती है और न पीछे हटना जानती है। वह सपनो मे उसे 'जोन आफ आर्क' के रूप मे देखकर कॉप उठते थे। १८ जून को वह इस दृढ निश्चय के साथ मैदान मे उतरे कि जैसे भी हो रानी का अन्त किया जाय। उन्हे निश्चय हो गया था कि रानी के जीते-जी क्रान्ति को दबाया नही जा सकेगा।

महारानी इस बात से अनजान नही थी। वह भी रणक्षेत्र मे इस सकल्प के साथ उतरी थी कि अब अन्तिम निर्णय हो जाना चाहिये। उस दिन भर कुछ विश्वासी सैनिको के साथ अकेली महारानी अग्रेजो की सारी सेना के साथ जूझती रही। अग्रेज सेनापतियो ने उन्हे एक क्षण के लिए भी आराम से नही बैठने दिया। विद्रोहियो के अन्य नेता तो यह देखकर कि अब जीतना कठिन है, चुपके-से किले से चल दिये थे, सिन्धिया की सेनाएँ रग बिगडता देखकर शत्रुओ से जा मिली थी। शेष रह गईं महारानी, वह दिन भर सारी अग्रेजी सेना का रास्ता रोकती रही।

जब १९ जून का सूर्य उदित हुआ तो विद्रोही सेना के अन्य नेता और सिपाही तितर-बितर हो चुके थे। केवल एक लक्ष्मी-बाई और उसके मुट्ठी भर साथी विजय-मद से मस्त सम्पूर्ण अग्रेजी-सेना से सग्राम करने के लिए मोर्चे पर रह गये थे। यह देखकर महारानी ने सारी शक्ति एकत्र करके अन्तिम

वार करने का निश्चय किया। उनका सकल्प था कि या तो अंग्रेजी सेना को परास्त कर दूगी या उनकी पंक्तियों को चीर कर बाहर निकल जाऊगी। उस अन्तिम युद्ध-प्रयाण में उनके चार भक्त अनुयायी भी थे। दो सखियाँ थी, जिनके नाम सुन्दर और मुन्दर थे। और दो सेवक थे, जिनके नाम रामचन्द्र-राव और रघुनाथसिह थे।

महारानी का उस दिन का आक्रमण बड़ा ही भयंकर था। उनकी तलवार बिजली की तरह चलती थी। जिधर पड़ती, रास्ता साफ कर देती। परिणाम यह हुआ कि थोड़ी ही देर में महारानी का छोटा-सा दल शत्रु-सेना की पहली पक्ति से पार हो गया। महारानी की पीठ पर उस समय भी पुत्र दामोदर राव बधा हुआ था।

महारानी धनुष से निकले हुए तीर की गति से शत्रु-सेना को पीछे छोडकर उड चली। यह देखकर अग्रेज सेनापति स्तब्ध रह गये। उस समय कमान ब्रिगेडियर स्मिथ के हाथ मे थी। उसने तेज घुड सवारो की एक टुकड़ी को हुक्म दिया कि महारानी का पीछा करके उसे जीवित या मृत रूप मे लेकर आओ।

इसके आगे भाग्य का फेर शुरु हुआ। हां, महारानी आसानी से हाथ आने वाली नही थी, परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी सखी सुन्दर कुछ पीछे रह गयी। एक गोरे ने पीछे से उस पर तलवार का वार किया। वह 'हाय वहन मै मरी' के आर्तनाद के साथ घोडे से गिर गई। महारानी की गति रुक गई। उसने पीछे मुड़-कर तलवार के एक ही झटके से आततायी गोरे का सिर धड़ से अलग कर दिया, परन्तु इस काम मे जो क्षण व्यतीत हुए,

उन्होने शत्रु को पास आने का अवसर दे दिया।

अब दूसरा सकट उपस्थित हो गया। रास्ते मे एक पहाडी नाला पड़ता था। यदि महारानी का अपना घोडा होता तो वह छलाग लगाकर पार हो जाता, परन्तु सिन्धिया का घोडा अशिक्षित था, वह झिझककर खडा हो गया। महारानी ने एडी पर एडी लगाई पर वह टस से मस न हुआ। इतने मे शत्रु आ पहुचे और महारानी को चारो ओर से घेर लिया। उस समय कैसी लडाई हुई, और महारानी कैसे घायल हुई, इसका ठीक-ठीक वृत्तान्त स्वय वे गोरे सिपाही भी नही बतला सके, जो वहा उपस्थित थे। बच्चे का बोझ पीठ पर लादे हुए महारानी बीसियो आक्रमणो का उत्तर दे रही थी। जहा महारानी घायल हुई, पीछे से देखा गया कि वहा दर्जन से अधिक गोरो की लाशे पडी थी। वह चारो ओर से होने वाले वारो का उत्तर दे रही थी कि एक गोरे ने पीछे से उनके सिर पर तलवार का भरपूर वार किया, जिससे सिर के दो भाग हो गये। बाया भाग आख के साथ नीचे लटक गया। इतने मे एक दूसरे गोरे ने छाती पर किर्च का वार किया।

इतने आघात पाकर बडे से बडा वीर अशक्त हो जाता, परन्तु उस तेजस्विनी ने हाथ से तलवार छोडने से पहले चमत्कार कर दिया। तलवार के दो वार किये और दोनो आक्रान्ताओ को काटकर गिरा दिया। इस तरह सब आक्रान्ता काटे गये और मैदान साफ हो गया। महारानी की जीवन-शक्ति समाप्ति पर आ गई थी। अन्त समय समीप आया जान, महारानी ने अपने बचे हुए पाच-छ. अनुयायियो को इशारा किया। पास ही एक

झोपड़ी थी, वे लोग महारानी को उसमें ले गये और नीचे लिटा दिया। अपने दत्तक पुत्र रामचन्द्रराव को सामने रोता देखकर महारानी ने उसे कहा—"खबरदार, मेरी देह को कोई विजातीय स्पर्श न करने पाये !" फिर कुछ रुककर दामोदर राव की ओर इशारा करके आदेश दिया, "अपने जीते जी इसे अपने से दूर न करना।"

इतना बोलने से महारानी का गला सूख गया। कुटिया के मालिक गंगादास ने थोड़ा-सा गंगाजल ला दिया। उसका एक घूट पीकर मानो शान्ति लाभ करके महारानी ने प्राण त्याग दिये। रामचन्द्रराव ने शत्रु-सेना के आने से पूर्व ही चिता बनाकर उनका दाह-संस्कार कर दिया। इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई का भौतिक शरीर भस्मीभूत होकर पृथ्वी मे विलीन हो गया परन्तु उनका यशरूपी-शरीर आज भी जीवित है और आगे भी जीवित रहेगा। जैसे भारत की नारी युग-युगान्तरो से सती सीता से पवित्रता और पातिव्रत्य धर्म का सन्देश लेती रही है और भविष्य मे भी लेती रहेगी, उसी प्रकार स्वाधीनता के गत सग्राम मे, आदर्श वीरागना रानी लक्ष्मीबाई से दृढ़ता, निर्भीकता और शूरता का सन्देश प्राप्त करती रही है और विश्वास है कि भविष्य मे भी देश या धर्म पर सकट आने पर वह सन्देश उन्हे मिलता रहेगा।

: ११ :
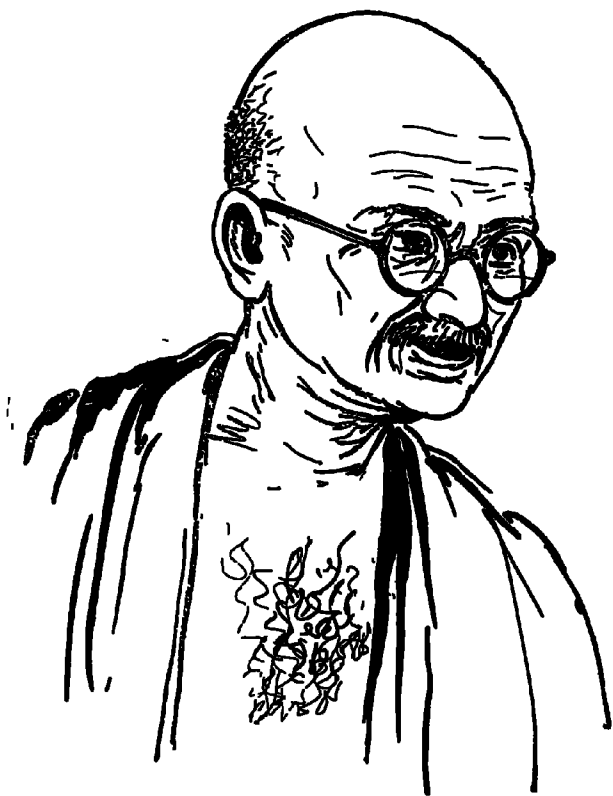
महात्मा गांधी

यूरोप के महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने महात्मा गांधी के जन्म-दिवस पर सदेश देते हुए कहा था—"ससार की भावी सतति को यह विश्वास नही आएगा कि वह (गाधी) हमारे जैसे शरीर के साथ पृथ्वी पर विचरण करता था।" इसी आश्चर्य की भावना को फ्रास के प्रसिद्ध लेखक रोम्याँ रोलां ने इन शब्दो मे प्रकट किया है —

"एक छोटा-सा कृशकाय मनुष्य, जिसकी आँखे बड़ी-बड़ी और आगे को निकली हुई है, जिसका शरीर मोटे सफेद कपड़े से ढका हुआ है और पाँव नगे है, जो चावल और फलो पर जीवित है और केवल पानी पीता है; जो फर्श पर सोता है, सोता भी बहुत थोडा है और निरतर काम करता रहता है; जो शरीर की रत्ती भर भी परवाह नही करता, जिसमें कोई विशेष ध्यान देने योग्य बात नही है—हाँ, उसका सारा रूप अनन्त धैर्य और अनन्त प्रेम का सूचक है . . .वह बच्चों की तरह सरल है। वह जब विरोधियो का मुकाबला करता है, तब भी विनय और शिष्टाचार को नही छोडता और वह सच्चाई का तो मानो देहधारी रूप है . .यह है वह मनुष्य जिसने तीस करोड देश-वासियो को विद्रोह के लिए खडा कर दिया है, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की जडो को हिला दिया है और जिसने मनुष्यो की राजनीति मे गत दो हजार वर्षो की धार्मिक भावनाओ का

प्रवेश करा दिया है।"

यह था चमत्कारी रूप, जिसमे विदेशी विचारक महात्मा गाधी को देखते थे। भारतवासी महात्मा जी के अनुयायी थे, उन्हे पूज्य मानते थे। उनमे पुराने समय के तपस्वी मुनियो का नवावतार देखते थे, परन्तु विदेशी लोगो को वे चमत्कार के सदृश प्रतीत होते थे। इस भेद का कारण यह है कि महात्मा जी को राजनीति जैसे व्यावहारिक क्षेत्र मे सफल होते देखकर उन्हे तपस्या, सादगी, सत्य और अहिसा आदि ऐसे गुणो की प्रधानता माननी पडती थी, जिन्हे उन्नीसवी और बीसवी सदी का पाश्चात्य ससार 'जगलीपन' का नाम दे चुका था। वे लोग इस सिद्धात को मानने-करने लगे थे कि उन्नति की दौड मे वे ही व्यक्ति या समाज आगे रह सकते है—जो पुराने सादगी और सत्य के आदर्शो को छोडकर आवश्यकताओ के बढाने और उपयोगितावाद मे विश्वास रखते हो। महात्मा जी के जीवन से उन्हे अपना भौतिक दृष्टिकोण टूटता दीखा, तो वे आश्चर्य अनुभव करने लगे। उन्हे महात्मा जी का व्यक्तित्व चमत्कारपूर्ण जँचने लगा। ऐसे चमत्कारपूर्ण महान् व्यक्ति की जीवन-कथा आध्यात्मिक और सासारिक दोनो ही दृष्टियो से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उसके साधन आध्यात्मिक थे, तो प्रत्यक्ष लक्ष्य सासारिक। उसमे धर्म और अर्थ, परलोक और इहलोक, आदर्शवाद और यथार्थवाद का ऐसा अद्भुत मिश्रण था कि यदि ससार के विचारको ने उसे चमत्कार समझा, तो कोई आश्चर्य की बात नही थी।

उस चमत्कारी पुरुष का नाम मोहनदास था। उनके पिता

का नाम कर्मचन्द था और गाधी उपजाति-सूचक शब्द था। आप अपने पिता की चौथी तथा अन्तिम सतान थे। उनके पिता पोरबन्दर के प्रतिष्ठित नागरिक थे।

बालक मोहनदास की शिक्षा राजकोट में हुई। उनके शिक्षा-काल की एक घटना विशेषरूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वह उनके चरित्र की एक विशेषता को सूचित करती है। एक बार एक अग्रेज इस्पेक्टर छात्रो की परीक्षा लेने आया। उसने अग्रेजी के कुछ शब्द लिखाये। मोहनदास ने एक शब्द के हिज्जे ठीक-ठीक याद न होने से अशुद्ध लिख दिये। स्कूल का मास्टर छात्रो के बीच मे घूम रहा था। उसने मोहनदास को इशारा किया कि वह सामने वाले लडके के हिज्जो की नकल कर ले, परन्तु मोहनदास को नकल करना पसन्द नही आया। परिणाम यह हुआ कि शेष सब लडको ने हिज्जे ठीक लिखे, केवल मोहनदास के ही गलत रहे, जिसके लिए इन्स्पैक्टर के चले जाने पर मास्टर ने उसे बहुत लताडा। मास्टर ने मोहनदास को निरा बुद्धू समझा होगा।

तेरहवे वर्ष मे कुल की प्रचलित प्रथा के अनुसार आपका विवाह हो गया। पत्नी का नाम कस्तूरबा था। गाधीजी के बडे भाई लक्ष्मीदास जी राजकोट मे वकील थे। वे बहुत चतुर और प्रभावशाली व्यक्ति माने जाते थे। सन् १८८५ मे जब गाधीजी की आयु सोलह वर्ष की थी, तब उनके पिता का देहान्त हो गया। उनके पश्चात् लक्ष्मीदास जी मोहन-दास के मार्ग-दर्शक बने। उन्होंने निश्चय किया कि छोटे भाई को विलायत भेज कर बैरिस्टर बनाया जाय ताकि दोनो भाई मिल-

कर खूब पैसा पैदा करें। सन् १८८८ की चौथी सितम्बर को लक्ष्मीदास जी ने अपने छोटे भाई को बम्बई से लदन के लिए जहाज पर विठा दिया।

विलायत भेजने से पूर्व गाधीजी की माता पुतलीबाई ने उनसे तीन प्रतिज्ञाएँ ले ली थी। वे प्रतिज्ञाएँ थी—(१) मै शराब नही पीऊँगा, (२) मास नही खाऊँगा और (३) पर-स्त्री से सग नही करूँगा। विलायत जाकर गाधीजी ने अपनी प्रतिज्ञाओ का यथाशक्ति पालन किया। दो-एक वार सग-दोप से प्रतिज्ञा-भग के रास्ते पर दो-चार कदम गए भी तो हृदय की प्रेरणा ने उन्हे बचा लिया।

विलायत मे गाधी जी पूरे विलायती ढग से रहते थे। उस समय वे अपने को ब्रिटिश-साम्राज्य का एक वफादार नागरिक मानते थे और उसी के अनुसार कार्य करते थे। वैरिस्ट्री पास करने मे तीन वर्ष से कुछ न्यून समय लगा। १८८८ के सितम्बर मे आप विलायत गये थे और १८९१ के जून मे भारत वापिस आ गए।

भारत आकर गाधीजी वकालत करने लगे, परन्तु उसमें आपको सफलता नही मिली। सफलता न मिलने के दो कारण हुए। अपनी आत्म-कथा मे गाधीजी ने बम्बई की अदालत मे अपनी एक पेशी की कैफियत वतलाते हुए लिखा है—"खफीफा अदालत की देहली लाँघने का यह पहला ही मौका था। मै मुद्दालेह की ओर से था। अब मुझे जिरह करनी थी। मै खड़ा तो हुआ लेकिन पाँव काँप रहे थे, सिर चकरा रहा था। जान पडता था, कचहरी घूम रही है। सवाल सूझते ही न थे। जज

हँसा होगा। वकीलो को तो मजा आया ही होगा। पर मेरी आँखे क्या कुछ देख पाती थी ! मै बैठ गया। दलाल से बोला—मुझसे तो यह मुकदमा न चल सकेगा। पटेल को कर लीजिये। मुझे दिया हुआ मेहनताना वापिस ले लीजिए।" "……मै भागा। मुवक्किल जीता या हारा इसकी मुझे याद नही।"

उस समय गाधीजी ऐसे सकोच और भय के शिकार होकर भाग निकले—यह जानकर कुछ लोगो को बहुत आश्चर्य होता है। परन्तु आश्चर्य की कोई बात नही। जब महात्मा गाधी हाई कोर्ट के चीफ जज और जजो के सामने छाती तानकर नि शक भाव से खड़े होते थे एव कठोर से कठोर दण्ड देने की चुनौती देते थे तब वे अपने आदर्शों के लिए लड रहे होते थे, परन्तु जब वे खफीफा के जज के सामने से मैदान छोड़कर भाग निकले थे तब उस क्षुद्र वस्तु के लिए खडे हुए थे जिसका नाम 'पैसा' है और जिससे गाधी जी हार्दिक घृणा करते थे। ऊँचे आदर्शो पर सच्चा विश्वास मनुष्य को वीर और सांसारिक लालसा की दासता उसे कायर बना देती है।

गाधी जी के भीतर विश्वास और उपयोगिता का यह सघर्ष पूर्ण यौवन पर था, तब पोरबदर के एक मुसलमान व्यापारी ने उन्हे, अपने कानूनी काम से दक्षिण अफ्रीका भेजने का प्रस्ताव करके, इस उलझन से निकाल दिया। उस व्यापारी का कारोबार दक्षिण अफ्रीका मे भी था। उसने एक महत्त्वपूर्ण मुकदमे के कागज-पत्र लेकर गाधी जी को अपने खर्च से दक्षिण अफ्रीका भेजकर मानो भारत के महान् अहिसक सग्राम की आधार-शिला रख दी।

गाधीजी १८९३ के मई मास मे डरबन के बदरगाह पर उतरे। अब्दुल्ला सेठ, जिनके काम से गाधीजी वहाँ गए, बदरगाह पर उनसे मिले और अपने घर ले गये।

दक्षिण अफ्रीका पहुँचकर गाधीजी ने वहाँ रहने वाले भारतवासियो की जो दुर्दशा देखी, उससे उनके हृदय पर गहरी चोट पहुँची। वहाँ के गोरे सब हिन्दुस्तानियोको 'कुली' नाम से पुकारते थे। गाधीजी को उन्होने 'कुली बैरिस्टर' की उपाधि दी। एक बार जब वे सेठ अब्दुल्ला के साथ अदालत मे जाकर बैठे, तो जज उनकी पगडी की ओर घूर-घूर कर देखने लगा। यह इस बात का इशारा था कि—"तुम्हे पगडी उतारकर अदालत मे बैठना चाहिए।" गाधीजी ने पगडी उतारने की अपेक्षा अदालत से उठकर चले जाना बेहतर समझा। अगले दिन यह पगडी-काण्ड समाचारपत्रो मे छप गया और उसकी खूब चर्चा हुई।

अभियोग के काम से गाधीजी को प्रिटोरिया जाना था। उनके लिए पहले दर्जे का टिकट खरीदा गया था। वे गाडी मे बैठ गए। ट्रासवाल की राजधानी पेटिसबर्ग मे एक गोरा मुसाफिर उस डिब्बे मे चढने के लिए आया। एक 'कुली' को वहाँ बैठा देखकर उलटे पाँव वापिस चला गया और रेलवे के दो अधिकारियो को ले आया। उन्होने गाधीजी को तीसरे दर्जे मे चले जाने की आज्ञा दी। गाधीजी ने उतरने से इनकार कर दिया। इस पर पुलिस बुला ली गई और गाधीजी का सामान डिव्बे से बाहर डाल दिया गया। गाधी जी ने तीसरे दर्जे मे सफर करने की अपेक्षा, कडाके की सर्दी मे, रात-भर मुसाफिर-

खाने मे पडा रहना पसन्द किया। केवल भारतवासी होने के कारण निचली श्रेणी मे जाना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझा।

भारत मे और दक्षिण अफ्रीका मे राजनीतिक दासता के कारण, भारतवासियो को इस प्रकार के अपमानजनक व्यवहार प्रतिदिन सहने पडते थे। सामान्य हृदयों पर वे बहुत हल्की प्रतिक्रिया उत्पन्न करते थे। लोगो को सहने की आदत-सी पड गई थी, किन्तु गाधी जी की अन्तरात्मा को वह सह्य नहीं हुई। पग-पग पर उनका हृदय विद्रोह करता था—वह अपमानजनक परिस्थितियो का अत करने के लिए अकुला उठता था। यह थी भूमिका जिसने गाधी जी के अगले सारे जीवन की बुनियाद रखी।

उन्ही दिनों नैटाल सरकार ने एक बिल तैयार किया, जिसका उद्देश्य, विधान मडल के लिए सदस्य चुनने के, भारत-वासियो के अधिकार को छीनना था। इस समाचार ने गांधी जी की विद्रोही भावना को उत्तेजित कर दिया। कानूनी काम समाप्त हो चुका था। गांधी जी भारत वापिस जाने का विचार कर रहे थे कि नैटाल सरकार का बिल समाचारपत्रो मे प्रकाशित हो गया। गाधी जी ने देश वापिस जाने का विचार स्थगित करके नैटाल सरकार के अन्यायपूर्ण बिल के विरुद्ध भारतीयों को जाग्रत करने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। बस, यही से ससार की पाशविक शक्तियो के विरुद्ध गांधी जी का वह अस्त्र-हीन अद्भुत सग्राम आरम्भ हुआ, जो पहले वीस वर्षो तक दक्षिण अफ्रीका मे और फिर बत्तीस वर्षो तक भारत की रण-स्थली मे लडा गया। उस अनूठे सग्राम मे भारतवासी, कभी आशा और

कभी निराशा से, परन्तु सदा श्रद्धा और विश्वास से भाग लेते रहे और उसे सारा ससार कभी उदासीनता से तो कभी कौतूहल से देखता एव मुसकराता रहा। इतिहास के पृष्ठो पर यह बात अमिट अक्षरो मे लिखी गई है कि गाधी जी द्वारा सचालित उस सग्राम को दोनो रण-क्षेत्रो मे सफलता मिली। जब गाधी जी महात्मा का पद प्राप्त करके सन् १९१५ मे दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस पहुँचे थे, तब अफ्रीका के शासक अपने राज-हठ को छोडकर भारतीयो के अधिकारो के बारे मे विद्रोही गाधी से समझौता कर चुके थे और जब महात्मा गाधी ने सन् १९४८ मे इस लोक से प्रयाण किया, तब अभिमानी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि भारत को स्वतन्त्र करके अपने घर वापिस जा चुके थे।

दक्षिण अफ्रीका के निवास के बीस वर्षो मे गाधी जी ने जो कार्य किये, उन्हे दो शीर्षको के अतर्गत लाया जा सकता है। पहला शीर्षक है—'साधना', एव दूसरा 'सत्याग्रह का सफल परीक्षण'। उन बीस वर्षो मे गाधी जी ने कठोर तप और साधना द्वारा अपने को उस महान् कार्य के लिए तैयार किया, जिसका अतिम फल भारत की स्वाधीनता के रूप मे प्रकट हुआ। वह साधना एक-दम पूरी नही हुई। गाधी जी ने एक के बाद दूसरा पग उठाते हुए कई वर्षो मे अपने को 'सिद्ध' कहलाने का अधिकारी बनाया।

वे कदम क्या थे ?

पहला कदम था—पूरे यूरोपियन वेष को छोडकर भारतीय वेष को अपनाना। वकालत का पेशा तो छोड ही दिया था। रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक पढ़-

कर आपने निश्चय किया कि शहर में रहना छोड़कर ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जहाँ मनुष्य अपने परिश्रम से स्वावलम्बी बनकर रह सके। फिनिक्स मे एक फार्म खरीदा और परिवार तथा सगी-साथियों के साथ वहाँ रहकर शारीरिक परिश्रम द्वारा जीवन-निर्वाह करते हुए सार्वजनिक कार्य करने लगे।

कुछ आगे चलकर भोजन की रीति-नीति मे सुधार किए। साधारण भोजन छोड़कर कभी सूखे मेवों का और कभी हरी सब्जियो का परीक्षण करने लगे। गाय का दूध सर्वथा छोड़ दिया। लगभग प्राकृतिक चिकित्सा के भोजन को अपना और अपने सहयोगियो का दैनिक भोजन बना लिया। चार बालक होने के पश्चात् गाधी जी ने ब्रह्मचर्य-व्रत पूर्णतया अपना लिया और आजीवन उसे निभाया।

इस प्रकार जीवन को साधना की अग्नि मे तपाकर तेजस्वी बनाने के साथ ही साथ आपने अपनी सार्वजनिक कार्य करने की पद्धति को भी दक्षिण अफ्रीका में ही पहले तैयार किया और फिर परिमार्जित किया। आपकी कार्य-पद्धति के कुछ आवश्यक सिद्धात थे, जिनका विकास दक्षिण अफ्रीका में ही आरम्भ हो गया था। उस कार्य-पद्धति का पहला सिद्धात यह था कि किसी अन्याय को चुपचाप सिर झुकाकर सहन मत करो। उसको दूर करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करो। दूसरा सिद्धांत यह था कि जो प्रयत्न करो उसमे प्रतिहिसा की, विरोधी को हानि पहुँचाने की भावना न हो, अपितु अन्याय के कारण होने वाले कष्टों को शान्ति-पूर्वक सहकर विरोधी को यह विश्वास दिला दो कि वह भूल पर है। यदि आवश्यक हो तो विरोधी के साथ

सद्व्यवहार या उपकार करके उसके दिल को जीतने का यत्न करो। इस तप का नाम ही महात्मा जी ने सत्याग्रह रखा था।

उपर्युक्त कार्य-पद्धति पर चलने वाले सत्याग्रही साधकों के लिए महात्मा जी ने तीन नियम निर्धारित किए थे— (१)साधक लोग पवित्र एव सादा जीवन व्यतीत करे, (२) सब प्रकार के धार्मिक तथा साम्प्रदायिक मतभेदो को भुलाकर एक मन होकर कार्य करे और (३) सत्याग्रह-सग्राम आरम्भ हो जाने पर सच्चे सिपाही की भाँति अपने नेताओ की आज्ञा-पालन करे क्योकि नियत्रण ही सफलता की कुजी है।

ये थे महात्मा जी की कार्य-पद्धति के मूल-सिद्धांत। इस पद्धति पर चलने के लिए जिस वीरता और निर्भयता की आवश्यकता थी, महात्माजी ने अपने भीतर उसका विकास कर लिया था और वे चाहते थे कि उनके साथी और अनुयायियो मे भी उन गुणो का पूर्ण विकास हो जाय।

महात्माजी की इस सम्पूर्ण तपस्या मे उनकी पत्नी प्रातः स्मरणीया कस्तूरबा गाधी उनकी सगिनी रही। महात्माजी की आत्म-कथा को पढने से विदित होता है कि व्यक्तिगत साधना के बहुत से अगो को उनकी बुद्धि स्वीकार नही करती थी। परन्तु, हिन्दू स्त्री की नैसर्गिक पति-भक्ति और धर्म-प्रेरणा ऐसी बलवती थी कि कस्तूरबा गाधी आरभ से अत तक महात्माजी के रथ का एक पहिया बनकर रही। बा ने अपनी सत्ता को गाधी जी की सत्ता मे विलीन कर दिया था।

यह तो थी बीस वर्षो की लम्बी साधना। बीस वर्षो मे दक्षिण अफ्रीका मे महात्माजी ने जो राजनीतिक कार्य किया

उसकी लम्बाई भी कुछ कम नही, किन्तु इस सक्षिप्त जीवनी मे उसका विस्तार से वर्णन करना संभव नही। यहाँ हम केवल उसकी मुख्य-मुख्य घटनाओ का निर्देश मात्र कर सकते हैं।

सन् १८९४-९५ में गाधी जी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों को जाग्रत करने का गुरुतर कार्य किया। उन्हे, जो अन्याय उन पर हो रहा था, और होने वाला था, उससे सचेत करके सगठित होने का सदेश दिया। सन् १८९६ मे आप छ. मास के लिए अपनी जन्मभूमि मे आये। आने के दो उद्देश्य थे—एक तो अपने परिवार को साथ ले जाकर दक्षिण अफ्रीका को अपना स्थायी कार्य-क्षेत्र बनाना और दूसरा प्रवासियो की स्थिति से देशवासियो को परिचित कराना। पूना मे आपने लोकमान्य बाल गगाधर तिलक और 'सर्वेन्ट्स आव् इडिया सोसाइटी' के अध्यक्ष पडित गोपालकृष्ण गोखले के दर्शन किए। मनुष्य स्वभाव से समान प्रकृति की ओर झुकता है। आप जहाँ तिलक की तेजस्विता से प्रभावित हुए वहाँ गोखले के व्यक्तित्व ने आपको अपनी ओर दूसरी तरह आकृष्ट कर लिया। गाधी जी गोखले जी को अपना गुरु मानते थे।

सन् १८९७ मे गाधी जी डरबन वापिस पहुँच गए। उस समय एक ऐसा कांड हुआ, जिसने दक्षिण अफ्रीका के गोरे निवा-सियो का असली रूप संसार पर प्रकट कर दिया। जब गांधी जी जहाज से उतरकर शहर मे जा रहे थे, तो कुछ गोरे बच्चों ने उन्हे पहचान कर शोर मचा दिया। गोरो की भीड़ इकट्ठी हो गई और पागल कुत्तो की तरह गाधी जी पर टूट पड़ी। पत्थर, ईंट, और अडे जो कुछ मिला, उन पर फेंका गया। अंत

मे पुलिस आ गई और उस हगामे मे से गाधीजी को निकाल ले गई। इस घटना ने महात्मा जी के हृदय पर विरोधी भाव अकित किए या नही, यह सदिग्ध हो सकता है, परन्तु भारतवासियो ने गोरो का नग्नरूप देख लिया, यह असदिग्ध है।

इन सब अनुभवो के होते हुए भी गाधीजी ने अपने मन्तव्य के अनुसार गोरो के हृदयो को प्रेम द्वारा जीतने का परीक्षण जारी रखा। जब सन् १८९९ मे बोअर-युद्ध जारी हुआ, तो अपने को ब्रिटिश साम्राज्य का एक नागरिक मानकर अपनी सेवाये अग्रेजी सरकार को अर्पण कर दी और घायलो की सेवा के लिए लगभग ११०० भारतीयो की एक टुकडी तैयार कर ली, जो रण-क्षेत्र मे पहुँचकर बराबर घायलो की सेवा करती रही।

युद्ध की समाप्ति पर गाधीजी फिर एक बार भारत आए, परन्तु दक्षिण अफ्रीका के समाचारो ने उन्हे फिर वहाँ लौट जाने पर मजबूर कर दिया। इस बार आप वहाँ जमकर बैठ गए और 'करो या मरो' के दृढ सकल्प के साथ राजनीति के रणक्षेत्र मे कूद पडे।

सन् १९०७ मे ट्रासवाल की सरकार ने भारतीयो के विरोध की अणु-मात्र भी परवाह न करके तीर्थ-यात्रियो की रजिस्ट्री का कानून पास कर दिया। गाधी जी के नेतृत्व मे भारतीयो ने इस काले कानून का सत्याग्रह द्वारा विरोध किया। उन्होने रजिस्ट्री कराने से इन्कार कर दिया। इस पर सरकार ने गाधी जी और उनके साथियो को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया।

सत्य और दमन का यह युद्ध सन् १९१४ तक जारी रहा।

बीच मे कई उतार-चढाव हुए। वहाँ के प्रधानमत्री जनरल स्मट्स ने कई वायदे किए और तोडे। परिणामत भारतीयो को कई बार सत्याग्रह करना पड़ा। अत मे, गोरो को सत्याग्रहियों के तप और ससार के लोकमत के सम्मुख झुकना पड़ा। एक समझौता हुआ, जिसने कुछ समय के लिए भारतीयो का सिर ऊचा कर दिया। भारतीयो के इस पावन प्रयत्न मे मि० पोलक आदि कई यूरोपियन सज्जन भी सम्मिलित हो गए थे।

जुलाई सन् १९१४ मे अपनी सत्य-साधना का प्रथम पर्व समाप्तकर महात्मा गाधी सपरिवार दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश के लिए विदा हो गए और रास्ते मे इग्लैंड मे कुछ समय व्यतीत करके सन् १९१५ के जनवरी मास की ९ तारीख को बम्बई पहुच गए। डरबन के सत्याग्रहाश्रम के छात्र पहले भारत आ चुके थे। उन छात्रो मे गाधी जी के सुपुत्र देवदास गाधी तथा कई अन्य सत्याग्रही बालक भी थे। पहले वे लोग कुछ मास तक गुरुकुल कागडी मे रहे, फिर शाति-निकेतन चले गए। महात्मा गाधी, महात्मा मुन्शीराम और कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ से दक्षिण अफ्रीका के निवास-काल मे ही परिचित हो चुके थे। वे दोनो महानुभावो मे अपने विचारो का आशिक प्रतिबिब पाते थे।

महात्माजी भारत मे आकर अपने राजनीति के गुरु श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले से मिले। इससे पहले वे सर फिरोज शाह मेहता और श्री लोकमान्य तिलक से भी मिल चुके थे। अपनी आत्म-कथा मे गाधी जी ने इन तीनो महापुरुषो की विशेषताओ का बडा सुन्दर विश्लेषण किया है। आप लिखते है —

"सर फीरोज शाह मुझे हिमालय जैसे और लोकमान्य समुद्र के समान लगे। गोखले गगा-से जान पड़े। हिमालय पर चढा नही जा सकता। समुद्र में डूबने का डर रहता है, पर गंगा की गोद मे तो क्रीडा की जा सकती है। उसमे डोगी खेई जा सकती है।"

अत. क्रियात्मक प्रतिभाशाली इस काठियावाडी महापुरुष ने हिमालय और समुद्र को छोडकर गगा को गुरु बना लिया। यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। गोखलेजी की ओर गाधी जी को आकर्षित करने वाले गुण थे—गोखलेजी की सत्य-प्रियता, त्याग-वृत्ति एव उच्चतम राजनीतिक प्रतिभा। भारत आने पर गोखलेजी ने गाधीजी को परामर्श दिया कि एकदम राजनीतिक समुद्र मे कूदने से पहले देश की दशा का अनुशीलन करना आवश्यक है। गाधीजी ने परामर्श को हृदयगम कर लिया एवं लगभग चार वर्ष तक राजनीति की मुख्य धारा से अलग रहे। यो उन वर्षो मे भी दीन-दु.खियो की पुकार सुनकर, अपने स्वभाव के अनुसार कई जगह सहायता के लिए पहुचते रहे। सन् १९१७ मे आप चम्पारन के नील के व्यापारी गोरो के खेतो मे काम करने वाले मजदूरो की दशा देखने गए, तो वहाँ के गोरो और उनकी पृष्ठ-पोषक सरकार के घर में खलबली मच गई। गाधी जी को चपारन से एकदम चले जाने की आज्ञा दी गई। गाधी जी ने ऐसी अन्यायपूर्ण आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया, तब उन पर मुकदमा चलाया गया। वे अदालत मे हाजिर हुए। सारा बिहार जैसे उबल पडा—क्राति की चिनगारी फूट निकली। सरकार को यह अनुभव होने लगा कि जिस मनुष्य से पाला पडा है, वह मोम

का नही है, फौलाद का है। सरकार झुक गई । एक कमीशन नियत किया गया, जिसने अंत मे मजदूरो की माँग को उचित मानकर उन्हे मुआवजे का रुपया वापिस दिला दिया।

चम्पारन के पश्चात् आपको अहमदाबाद के मिल-मजदूरों ने पुकारा। मजदूरो की शिकायत थी कि उन्हे पैसा कम मिलता है और काम अधिक करना पडता है। महात्माजी ने मजदूरों की माँगो का समर्थन किया। पहले तो मिल-मालिक अपनी जिद्द पर अडे रहे, परन्तु महात्माजी ने अपने ब्रह्मास्त्र 'उपवास' की घोषणा की तो गुजराती मिल-मालिक घबरा गए और उन्होंने पचफैसले को मानना स्वीकार कर लिया।

इन वर्षो मे महात्मा जी ने अपना आश्रम अहमदाबाद के समीप साबरमती नदी के किनारे स्थापित कर लिया था। डरबन से आये हुए छात्र वही पहुँच गए थे। महात्मा जी तब से देश मे 'साबरमती नदी के सत' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

महात्माजी को राजनीति की मुख्य धारा मे डालने का श्रेय रौलट-एक्ट सबधी आन्दोलन को है। यूरोप का पहला महायुद्ध सन् १९१४ मे आरम्भ हुआ और १९१८ के नवम्बर मास में समाप्त हो गया। युद्ध के प्रारभ होने पर सब मतभेदों और शिकायतो को अलमारी मे बद करके सभी श्रेणियो के भारतवासियो ने अग्रेजी सरकार की सहायता करने का सकल्प प्रकट किया तथा आचरण भी किया। राष्ट्रीय नेताओ ने जनता को सहयोग की प्रेरणा दी। राजा-महाराजाओ और नवाबो ने धन एव सेना की भेट पेश की और साधारण जनता उत्साहपूर्वक सेना मे भर्ती होने लगी। देश की इस हार्दिक सहायता से अंग्रेज इतने प्रभावित हुए कि इंग्लैड के बादशाह से लेकर साधारण लोक-नेताओ ने भारत-

वासियो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अनेकानेक सब्ज बाग दिखाए। यदि युद्ध और चलता या अग्रेज जीतने के स्थान पर हार जाते, तो भारत के प्रति इग्लैड का क्या व्यवहार होता, यह कहना कठिन है, परन्तु भाग्य की बात, अग्रेज और उनके साथी जीत गए। मनुष्य की गहराई की परीक्षा हार के समय नही जीत के समय मालूम पडती है। जीत ने अग्रेजो के दिमाग बदल दिए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इग्लैड ने भारत के सामने स्व-राज्य या स्वराज्य की किश्त की जगह 'रौलट बिल' नाम का दमनकारी कानून पेश कर दिया।

'रौलट बिल' को कानून बनने से रोकने के लिए जितने वैध उपाय हो सकते थे सब उपयोग मे लाए गए, किन्तु अग्रेजी सरकार टस से मस नही हुई और १८ मार्च, १९१९ को रौलट एक्ट विधान-सभा मे स्वीकृत होकर कानून बन गया। विधान सभा मे भारतीय सदस्यो ने खूब डटकर विरोध किया। सरकार को गभीर चेतावनी दी गई परन्तु शक्ति के घमंड मे चूर, अंधी सरकार विचलित न हुई, उसने पूर्ण अवहेलना करने का निश्चय कर लिया था।

देश का राजनीतिक जागरण बहुत आगे बढ गया था। काग्रेस के कतिपय अधिवेशनो ने जो जाग्रति का बिगुल बजाया था, उसे सरकार द्वारा किए गए वायदो के भग ने भीषण नाद करने के लिए उत्तेजित कर दिया और व्यापक अर्थ-सकट तथा बेचैनी के फलस्वरूप आतकवादियो के कारनामो ने आग मे घी का काम किया। देश क्राति के लिए लगभग तैयार हो चुका था, उसे आव-श्यकता थी केवल अनुकूल अवसर की और उस अवसर से लाभ उठाने की शक्ति रखने वाले नेता की। अवसर दे दिया रौलट

एक्ट ने और नेता दे दिया काठियावाड़ ने। अपने सत्याग्रह के प्रयोग का नुस्खा हाथ मे लेकर देश की व्याधि को शांत करने के लिए महात्मा गाधी कार्यक्षेत्र मे कूद पडे।

महात्मा जी ने अहिसात्मक सत्याग्रह की रण-भेरी १९१९ के मार्च मास मे बजाई। उन्होने देश को जगाकर क्राति का श्री-गणेश कर दिया। उस समय जो शांतिमय संग्राम आरम्भ हुआ, उसने कई रूप धारण किए। कभी उतार पर आया,तो कभी चढाव पर पहुचा। कभी-कभी सर्वथा असफल-सा होता प्रतीत हुआ। परन्तु महात्माजी के अटल एव प्रबल नेतृत्व मे जो संग्राम सन् १९१९ मे आरम्भ हुआ वह अट्ठाईस वर्षो तक बराबर चलता रहा और अत मे सन् १९४७ ई० के १५ अगस्त के शुभ दिन स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ उसकी समाप्ति हुई।

यह अहिसात्मक सत्याग्रह कई दशाओं मे से होकर गुजरा। प्रारभ मे उसका रूप था—हडताल, प्रार्थना और उपवास। कुछ आगे चलकर उसने असहयोग का रूप धारण कर लिया और अत मे सत्याग्रह की सर्वागीण योजना बनाकर देश भर मे व्याप्त हो गया। महात्माजी के उपवास, इस सग्राम के सैनिको मे उत्साह का प्रचड मत्र फूक देते थे। वे इस अहिसात्मक सग्राम मे उनका यथा समय प्रयोग करते रहते थे। यह 'सत्याग्रह-संग्राम' विश्व के लिए एक नई देन थी। समस्त मानव-जाति धर्म के व्यापक सिद्धातो के इस व्यावहारिक प्रयोग के परीक्षण को बडी उत्सुकता एव आशका से देख रही थी। गाधीजी तो इसे अपने अभिमत सिद्धातो की अग्नि-परीक्षा मानते थे। अत मे वे सफल हुए। परिस्थितियों का सहयोग पाकर महात्माजी का प्रयोग सब प्रकार से

सफल हुआ। भारत को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हुई। मनुष्य-जाति को अन्याय, अत्याचार और वलात्कार पर विजय पाने का नूतन साधन प्राप्त हो गया।

मार्च, १९१९ के अंत मे महात्मा गाधी ने देशवासियो को आदेश दिया कि रौलट एक्ट पर असतोप प्रकट करने के लिए वे ३० मार्च को देश-भर मे सव प्रकार का कारोबार वद करके पूरी हडताल करे। उस दिन उपवास रखा जाय और ईश्वर से वल की प्रार्थना की जाय। दिल्ली मे ३० मार्च को और देश के अन्य भागो मे ६ अप्रैल को हडताल मनाई गई। पहले दिल्ली मे, फिर पजाव मे,सरकार ने हडतालको दमन-चक्र से शमन करना चाहा, जिसका परिणाम हुआ—जनता का नियत्रण से वाहर निकल जाना। अनियत्रित जनता की सगठित पग-ध्वनि से सरकार वहरी हो चली—उसने अपनी रक्षा के लिए लाठियो और गोलियो का खुल-कर प्रयोग किया। पजाव मे सरकार ने जलियाँ वाला वाग-हत्या-काड और मार्शल-ला के अमानुषी अत्याचारो द्वारा आन्दोलन को दवाना चाहा, किन्तु वर्वर सरकार असफल रही। आजादी के पर-वाने लाठी-गोली से क्यो डरते? डर तो उस अत्याचारी सरकार के हृदय मे था, जो अन्याय और उत्पीडन पर आधारित थी। गाधी जी पजाव की जनता को शात करने के लिए वम्वई से चलकर दिल्ली के समीप पहुँच चुके थे, किन्तु उनका आगमन सरकार वर्दाश्त न कर सकी। उसने पलवल के स्टेशन पर महात्मा जी को गिरफ्तार करके वापिस वम्वई भेज दिया। सरकार की इस मूर्खतापूर्ण कार्यवाही ने दिल्ली और पजाव की जनता मे और भी अधिक उत्तेजना उत्पन्न कर दी।

हडताल के प्रसंग मे अन्य कई स्थानो पर भी उपद्रव हो गए। इस पर महात्मा जी ने यह घोषणा करके कि मुझसे आन्दोलन जारी करने मे हिमालय जैसी वडी भूल हो गई थी, आन्दोलन को वापिस ले लिया।

सन् १९१९ के अत मे अमृतसर मे काग्रेस का बृहत् अधिवेशन हुआ। उसमे पजाव मे सरकार के प्रतिनिधियो द्वारा किए गये उन अत्याचारो के स्मरण-पत्र पर विचार होने वाला था, जिसे तहकीकात करने वाली सरकारी हण्टर कमीशन और कांग्रेसी तहकीकाती-कमेटी ने दिया था। यह स्मरण-पत्र समाचारपत्रो में प्रकाशित हो चुका था। सरकार ने काग्रेस के प्रस्तावों को व्यर्थ करने के लिए, अधिवेशन से ठीक पहले सम्राट् के एक घोषणा-पत्र द्वारा भारत को धीरे-धीरे स्वराज्य देने का वायदा कर दिया और अली-बधु, डाक्टर सत्यपाल और डा० सैफुद्दीन किचलू आदि नेताओ को मुक्त कर दिया। इस राजनीतिक चाल से काग्रेस का वातावरण कुछ ठंडा पड गया। महात्मा गांधी तथा लोकमान्य तिलक के एक मत से वह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, जिसमे सरकार द्वारा किए गए शासन-सुधारो से सहयोग करने मे विश्वास प्रकट किया गया था। परन्तु, यह विश्वास थोडे ही काल तक अपने अस्तित्व मे रहा। सन् १९२० के अप्रैल मास मे गाधी जी होमरूल-लीग के अध्यक्ष चुने गए। जून मे महात्मा जी के नेतृत्व मे खिलाफत कान्फ्रेंस ने असहयोग की नीति स्वीकार कर ली। उसी वर्ष १ अगस्त के दिन वम्बई मे लोकमान्य तिलक निर्वाण को प्राप्त हुए। अमृतसर काग्रेस के समय से ही लोकमान्य यह कहने लगे थे कि भविष्य मे देश का राजनीतिक नेतृत्व गाधी जी करेंगे। गांधी जी

से नीति-सबधी मौलिक मतभेद रहते हुए भी लोकमान्य यह अनुभव करते थे कि यदि वह देश को अपने साथ ले जा सके, तो गाधी जी की नीति देश के लिए कल्याणकारिणी होगी। 'असहयोग' का अभिप्राय था सरकार से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखा जाय। सरकार की नौकरियो का त्याग कर दिया जाय। सरकार की दी हुई उपाधियाँ छोड दी जावे। विद्यार्थी सरकारी स्कूलो तथा कालिजो से निकल आये और वकील वकालत का त्याग कर दे। इसके अतिरिक्त महात्मा जी ने प्रतिदिन कातने और खद्दर पहनने पर जोर दिया। मुसलमानो मे खिलाफत के कारण काफी क्षोभ था। उन्होने असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार स्वराज्य, पजाब के अत्याचार और खिलाफत—इन तीन स्तम्भो के आधार पर असहयोग का आदोलन खड़ा हो गया। कुछ समय पीछे इगलैंड के युवराज के भारत आने पर उसके बहिष्कार को भी चौथे स्तम्भ के स्थान पर 'असहयोग' मे सम्मिलित कर लिया गया।

महात्मा जी ने भारत की गरीब जनता के साथ सहानुभूति के रूप मे साधारण वेष छोडकर—लगोटी, घुटनो तक की एक धोती और ऊपर ओढने की एक चादर तक अपने वेष को परिमित कर लिया।

एक बार तो असहयोग आदोलन खूब जोर से चला। जनता मे वह 'गाधी की आधी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। प० मोतीलाल नेहरू, देशबधु चितरजनदास और श्री राजेन्द्रप्रसाद आदि चोटी के भारतवासी वकालत छोडकर जेलो को भरने के लिए तैयार हो गए।

दिसम्बर, सन् १९२१ को अहमदावाद मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ। उस समय असहयोग आंदोलन अपनी चरम चोटी पर पहुँचा हुआ था। काग्रेस का मुख्य प्रस्ताव देश की मनोवृत्ति का चित्र था। उसमे महात्मा जी को काग्रेस का सर्वाधिकारी वनाकर सत्याग्रह जारी करने का आदेश दे दिया गया। इन्ही दिनों लार्ड रीडिंग वायसराय बनकर भारत आये और उन्होने महात्मा जी से मिलकर सुलह का रास्ता निकालने का यत्न किया, परन्तु, क्योकि अग्रेज कुछ दिए बिना केवल बातो के आधार पर सुलह करना चाहते थे, महात्मा जी ने सहयोग देने से साफ इंकार कर दिया। सन् १९२२ के फरवरी मास मे गुजरात के बारदोली ताल्लुके में सविनय कानून-भग के रूप मे सत्याग्रह करने का निश्चय किया। सत्याग्रह छिडने वाला ही था कि एक दुर्घटना घट गई। चौराचोरी में जनता से पुलिस का सघर्ष हो गया जिसमे पुलिस के कई सिपाही मारे गये। महात्मा जी को इस समाचार ने इतना दु खित और विचलित कर दिया कि उन्होने बारदोली मे कार्यकारिणी का अधिवेशन बुलाकर सत्याग्रह के स्थगित करने की घोषणा कर दी।

सरकार ने परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया। अभी तक वह महात्मा जी को हाथ लगाने से डरती थी। सत्याग्रह के स्थगित होने से देश मे जो शिथिलता आई, उससे उत्साहित होकर सरकार ने महात्मा जी को गिरफ्तार कर लिया। जो अभियोग चला, वह अपने ढग का निराला था। महात्मा जी ने न कोई वकील किया और न गवाह पेश किया। केवल एक वक्तव्य दिया, जिसमे अपने राज-भक्त से राज-द्रोही बनने के कारणों का इतिहास बतलाते हुए

सरकार द्वारा लगाये गए आरोपो को स्वीकार कर लिया और अत मे जज से कहा कि "आपको चाहिए कि मुझे कठोर-से-कठोर दण्ड दे।" जज ने सजा सुनाते हुए जो वाक्य कहे, वे भी स्मरणीय है। उसने कहा —

"इस अवसर पर न्यायोचित सजा का निश्चय करना इतना कठिन है जितना इस देश के जज के सामने शायद ही कभी आया हो। कानून व्यक्तियो की परवाह नही करता, फिर भी इस बात से इकार करना असभव है कि जितने व्यक्तियो के मुकदमे मुझे अब तक करने पड़े है, या करने पड़ेगे उन सबसे आपका मुकदमा भिन्न है—आपकी श्रेणी अद्वितीय है। इस तथ्य से भी इकार करना असभव है कि अपने करोडो देशवासियो की निगाह मे आप एक महान् देशभक्त और महान् नेता है।"

जज ने तिलक महाराज के अभियोग की चर्चा करते हुए गाधी जी को छ वर्ष की कैद का दण्ड दिया और कहा कि "यदि सरकार बाद मे इस दण्ड को घटाना उचित समझे, तो मुझसे अधिक प्रसन्न कोई न होगा।"

महात्मा जी यरवदा जेल मे बद कर दिये गए। उसके पश्चात् की घटनाओ को यहाँ विस्तार से देना सभव नही है—उनका निर्देश-मात्र ही पर्याप्त है, क्योकि वे स्वाधीनता-प्राप्त्यर्थ सत्याग्रह-सग्राम-रूपी शृखला की ही भिन्न-भिन्न कडियाँ थी। उनका महत्त्व इतना पृथक् नही जितना सामूहिक है।

२० मार्च, १९२२ को महात्मा जी जेल भेजे गए और १२ जनवरी, १९२४ के दिन 'अपेण्डिसाइटस' के आपरेशन के लिए अस्पताल मे भेज दिए गये। वहाँ से सफल आपरेशन के पश्चात्

छोड दिए गए। मुक्त होकर आप कुछ समय तक स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से बबई के जुहू नामक स्थान पर रहे। वहाँ विश्राम करते हुए आपने देश की दशा पर दृष्टिपात किया, तो उसमे दो वर्ष पूर्व की अपेक्षा दो बड़े परिवर्तन दिखाई दिए। १९२२ के अत में गया काग्रेस के अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू और देश-बधु चितरजनदास ने असहयोग के विधान-सभा संबंधी निश्चय की उपेक्षा करके विधान-सभाओं मे प्रवेश करके सरकार से लड़ने के लिए स्वराज्य पार्टी की स्थापना कर ली थी। राजनीतिक परिस्थिति मे यह पहला परिवर्तन था। दूसरा परिवर्तन यह दिखाई दिया कि देश के मलावार, मुल्तान आदि स्थानों पर भयानक साम्प्रदायिक दगे हो गए थे, जिनमे न केवल मदिरो के तोड़ने, हिन्दुओ को जवर्दस्ती मुसलमान बनाने एवं दूसरी मार-काट की अमानुषी घटनाएँ घटित हुई बल्कि हिन्दू स्त्रियों का अपहरण किया गया—इन उपद्रवो के कारण राष्ट्र की वह एकता जिसके आधारपर असहयोग औरसत्याग्रह के आन्दोलन खड़े थे, जर्जरित-सी हो रही थी। महात्माजी ने इन दोनो के उपाय अलग-अलग किए : स्वराज्य पार्टी के कार्यक्रम को समझौते के रूप मे अपना लिया और साम्प्रदायिक उपद्रवो को रोकने के लिए दिल्ली जाकर जान की बाजी लगा दी। आपने इक्कीस दिन का उपवास किया, जिससे प्रभावित होकर देश के नेता एक सम्मेलन के रूप मे एक-त्रित हुए और महात्मा जी को आश्वासन दिलाया कि भविष्य में वे उपद्रवो को रोकने का प्रयत्न करेंगे।

घटना-चक्र चलता गया। १९२५ की काग्रेस मे महात्मा जी अध्यक्ष-पद पर विराजमान हुए। काग्रेस के वेताज बादशाह तो वे

लगभग २८ वर्षों तक रहे—इस बार ताज भी उनके सिर पर रखा गया। वह वर्ष महात्मा जी ने देश को जागृत करने मे व्यतीत किया। रात और दिन परिश्रम करने से अत मे थकान हो गई, जिसे दूर करने के लिए आपने नवम्बर मास मे सात दिन का उपवास किया।

इसके पश्चात् काग्रेस का अधिवेशन कानपुर मे हुआ। वहाँ महात्मा जी ने काग्रेस की बागडोर भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू के हाथो मे सौप दी और स्वय फिर काग्रेस के बेताज बादशाह बन गए। सन् १९२६ मे नये विधान के अनुसार धारा-सभाओ के जो चुनाव हुए, उनमे काग्रेसजनो ने स्वराज्य पार्टी के तत्त्वाधान मे भाग लिया। काग्रेसी यह सकल्प करके धारा सभाओ मे प्रविष्ट हुए कि वे गढ के भीतर जाकर सरकार की शक्ति को नष्ट करेगे। महात्मा जी ने सिद्धान्त-रूप मे स्वराज्य दल की नीति से सहमत न होते हुए भी व्यावहारिक-रूप मे स्वराज्य दल को अपना आशीर्वाद प्रदान किया।

१९२६ के अत मे काग्रेस का अधिवेशन गौहाटी मे हुआ। उसमे महात्मा जी के लैफ्टीनेट की हैसियत से मौलाना मुहम्मद अली अध्यक्ष बनाए गए। महात्मा जी उस अधिवेशन मे सलाहकार के तौर पर सम्मिलित हुए। उन वर्षो मे उन्होने काग्रेस के नीति-निर्धारण का सीधा उत्तरदायित्व छोड़-सा दिया था—उन्होने अपने कार्यक्रम मे अन्य रचनात्मक कार्यो को प्रमुखता दे रखी थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता-निवारण एवं खादी-प्रचार को प्रोत्साहित करने मे ही जुट-से गए थे। वे सीधी राजनीति से लगभग पृथक्-से रहने लगे थे। राजनीति से पृथक्

रहने का यह अभिप्राय नही था कि महात्माजी विश्राम करते रहे। यह समय उन्होने उपर्युक्त योजना-क्रमो मे लगाया। हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने मे उन्हे सफलता नही मिल सकी। यह उन्होने स्वय स्वीकार किया था। आपने कहा था, "मै निरुपाय हो गया हूं, मै इससे हाथ धो बैठा हू।"

१९२७ के नवम्बर मास मे भारत की राजनीति का नया दौर आरम्भ हुआ। सरकार महात्माजी को अधूरे सुधारों से संतुष्ट करके राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने का यत्न करने लगी। परन्तु महात्माजी झासे मे न आकर स्वराज्यप्राप्ति के लिए शाति-मय सग्राम की ज्वाला को नए-नए रूपो मे अधिकाधिक प्रज्वलित करते गए। इस सक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त मे उस संघर्ष की मुख्य-मुख्य घटनाओ का निर्देश ही किया जा सकता है। उन्हे हम भारत की स्वराज्य-यात्रा के पडाव कह सकते हैं।

महात्माजी के राजनैतिक मौन को नए वाइसराय लार्ड इर्विन ने तोडा। १९२७ के नवम्बर मास मे वाइसराय का बुलावा उस समय पहुचा जब वे मगलूर मे विश्राम कर रहे थे। महात्मा जी नई दिल्ली पहुचे तो वाइसराय ने उन्हे 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति का समाचार दिया। महात्माजी को उससे संतोष नही हुआ। फलत. साइमन कमीशन के भारत-आगमन पर उसकी सभी बडे-बडे नगरो मे 'साइमन वापिस जाओ' के नारों तथा काले झडों से अगवानी की गई। राष्ट्रीय विचारो के मनुष्यों ने कमीशन के सामने गवाही देना स्वीकार नही किया।

साइमन कमीशन की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई वह और भी अधिक निराशाजनक थी। तब महात्माजी ने कई वर्ष पूर्व स्थ-

गित किए हुए बारदोली-सत्याग्रह को चलाने की अनुमति दे दी। उस सत्याग्रह का सचालन किया—सरदार वल्लभभाई पटेल ने। हम कह सकते है कि उस सत्याग्रह को सरदार पटेल के कुशल नेतृत्व मे पूरी सफलता मिली। इसी सत्याग्रह की सफलता नें सरदार के यश और प्रभाव मे अपिरिमेय वृद्धि कर दी। वही उनको बारदोली के सरदार की उपाधि मिली।

१९२९ के अत मे लार्ड इरविन ने घोषणा की कि भारत के भावी सविधान का निश्चय करने के लिए लदन मे गोलमेज कान्फ्रेन्स की जायगी, जिसमे भारत के सभी दलो के प्रतिनिधि भाग ले सकेगे। काग्रेस ने महात्माजी को अपना एकमात्र प्रतिनिधि चुनकर लदन भेजा। इधर १९२९ के दिसम्बर मास में अतिम रात के बारह बजे रावी के तट पर प० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे काग्रेस ने यह घोषणा कर दी कि उसका लक्ष्य भारत के लिए पूरी स्वाधीनता प्राप्त करना है।

महात्माजी स्वाधीनता प्राप्त करनें का एकमात्र उपाय सत्याग्रह को मानते थे। सत्याग्रह-सग्राम का नियम है कि पहले शत्रु को सूचना दे दी जाय तब हमला किया जाय। महात्माजी ने एक शातिप्रेमी अग्रेज मित्र के हाथ अपने विचार की सूचना वाइसराय के पास भेज दी। वाइसराय ने स्वय उसका कोई उत्तर नही दिया, तब महात्माजी ने नमक-सत्याग्रह जारी करने का निश्चय करके देश को उसके लिए उद्यत होने की सूचना दे दी।

१२ मार्च, १९३० को महात्माजी ने वह अद्‌भुत चढाई आरम्भ की, जो दाडी-यात्रा के नाम से प्रसिद्ध है। आपने अपने ७८ अनुयायियो के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट की ओर

पैदल प्रस्थान कर दिया। आपका लक्ष्य समुद्र तट पर पहुचकर स्वेच्छा से नमक बनाकर नमक-कानून को भग करना था। वह यात्रा क्या थी, देश के लिए क्राति का एक सात्त्विक सदेश था। उसने देश भर मे जोश की एक प्रचण्ड ज्वाला प्रदीप्त कर दी।

लगभग डेढ मास तक सरकार ने इस यात्रा को चलने दिया। संभवत. उसका विचार था कि अंत मे किसी न किसी दिन यात्री थकेंगे ही। परन्तु उनके थकने के स्थान पर नमक सत्याग्रह की आग देश भर मे फैल गई। तब सरकार ने ४ मई को महात्माजी को नजरबद करने के लिए गिरफ्तार कर लिया।

महात्माजी नजरबंद हो गए परन्तु देश मे आन्दोलन ढीला न हुआ, तब सरकार ने फिर करवट बदली और लदन मे गोल-मेज कान्फ्रेन्स का नाटक रचा गया। इस कान्फ्रेन्स की पहली बैठक १९३० के नवम्बर मास मे हुई। उसमे कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि उपस्थित नही था। फलतः परिणाम कुछ भी न निकला। तब १९३१ के आरभ मे सरकार ने महात्माजी तथा काग्रेस के अन्य नेताओ को जेल से मुक्त करके काग्रेस को कान्फ्रेन्स में आमंत्रित किया। काग्रेस ने निश्चय किया कि एकमात्र महात्माजी ही काग्रेस के प्रतिनिधि के रूप मे कान्फ्रेन्स मे सम्मिलित हों।

महात्माजी की वह विलायत-यात्रा अपने ढग की अनूठी थी। गोलमेज कान्फ्रेन्स मे उपस्थिति तो महात्माजी के लिए गौण हो गई थी। मुख्य बात तो यह हुई कि महात्माजी ने कई वर्षो के पश्चात् यूरोप को, और यूरोप ने महात्माजी को नये दृष्टिकोण से देखा। महात्माजी ने जिन लोगों से भेट की, उनमे इंगलैंड के राज-दम्पति और इटली के मुसोलिनी जैसे शासक भी थे, और रोम्या

रोला एव बर्नार्ड शा जैसे साहित्यिक महापुरुष भी। वे यूरोप के गरीब वर्ग के सपर्क मे भी आये और आक्सफोर्ड के घुटे हुए विद्वानों से भी मिले। उनसे तो महात्माजी के बहुत लम्बे प्रश्नोत्तर भी हुए। इस सम्पूर्ण मेल-जोल मे महात्माजी अपने उसी फकीरी वेष मे रहे जो भारत मे पहनते थे। उनके तापस वेष मे पश्चिम के लोगो ने भारत की जाग्रत प्रशान्त आत्मा को देखा तो उन्होने मुसोलिनी जैसे शासको के शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित निवास-स्थानो मे पश्चिम की अशात आत्मा की झलक देखी।

गोलमेज कान्फ्रेन्स मे महात्माजी ने जो भाग लिया, उसका वर्णन उन्होने विलायत से लौटकर इन शब्दो मे किया था—"मै खाली हाथ लौटा हू, परन्तु मैने अपने देश की इज्जत पर बट्टा नही लगने दिया।"

कान्फ्रेन्स क्या थी—भानुमती का पिटारा था। सरकार ने भिन्न-भिन्न विचारो के लोगो को इकट्ठा करके ससार के सामने भारत की फूट का दृश्य उपस्थित करने का यत्न किया था। भिन्न-भिन्न सप्रदायो के लोग विशेष अधिकारो के लिए लड रहे थे और अग्रेजी सरकार बिल्लियो मे बन्दर बनकर मुस्करा रही थी। ऐसे वातावरण मे महात्माजी अटल रहे। वे विशेष मताधिकारो के विरोध और शासन के पूरे अधिकारो की माग पर दृढ बने रहे। परिणाम यह हुआ कि दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स भी बाझ ही सिद्ध हुई।

महात्माजी ने अपने देश मे आकर पुन अहिसात्मक सग्राम का बिगुल वजा दिया। यह सघर्ष लम्बा चला। अपने नियम के अनुसार महात्माजी ने पहले वाइसराय से मिलने के लिए समय

मागा। वाइसराय ने इकार किया; इस पर महात्माजी ने उसे सूचना दे दी कि "अब मुझे सविनय कानून भंग का आदोलन चालू करना पड़ेगा।" इस सूचना का उत्तर सरकार ने गांधीजी की गिरफ्तारी से दिया। वे यरवदा जेल मे बद कर दिये गए। देश पर महात्माजी की गिरफ्तारी का जो असर हुआ, उससे सरकार चकित हो गई। देश भर मे सविनय कानून भग का आंदोलन पानी मे तेल की तरह फैल गया। देशभक्त पुरुष, स्त्री और बच्चे मानो-एक-दूसरे से होड़ लगाकर कानून भंग करके जेलो मे जाने लगे।

इसी वर्ष सितम्बर, १९३२ मे अग्रेजी सरकार की हठधर्मी ने महात्मा जी को अपने प्राणो की बाजी लगाने के लिए बाधित कर दिया। १७ अगस्त, १९३२ के दिन इगलैंड के मजदूर दल के नेता, प्रधान मत्री रैम्से मैक्डोनाल्ड ने भारत की साम्प्रदायिक समस्या पर अपने फैसले मे अछूतो को मुसलमानों की भाति अलग निर्वाचन का अधिकार देने की घोषणा की। उसका अभिप्राय यह था कि अछूत सदा के लिए हिन्दुओं से पृथक् हो जाए। महात्माजी ने जब जेल मे यह फैसला पढा तो उनकी आत्मा व्याकुल हो उठी और उन्होने प्रधान मंत्री के फैसले के विरुद्ध २० सितम्बर के दिन आमरण अनशन आरम्भ कर दिया।

उपवास के समाचार ने न केवल भारत मे, अपितु इंगलैंड मे भी असाधारण हलचल पैदा कर दी। देश के भिन्न-भिन्न मतों के नेता यरवदा मे एकत्र होने लगे। पहले तो कुछ समय तक अग्रेजी सरकार अपनी बात पर अड़ी रही परन्तु जब अछूत जातियो के नेता और महात्माजी एक निश्चय पर पहुच गए तो सरकार को वह निश्चय मान लेना पडा। अछूत लोग हिन्दू जाति के

अग बने रहे। सतुष्ट होकर महात्माजी ने सात दिन के उपवास के पश्चात् सोमवार को देवी कस्तूरबा के हाथ से नारगी का रस लेकर अपने आमरण उपवास को तोड दिया।

अछूतो की समस्या के वैधानिक पहलू से निबटकर महात्माजी ने अपना सारा ध्यान उस समस्या के सामाजिक पहलू पर लगाने का निश्चय किया। उन्होने 'यग इडिया' का नाम बदल कर 'हरिजन सेवक' रख दिया। 'हरिजन सेवक सघ' का सगठन भी उन्होने इसी समय किया।

१९३३ के मई मास मे महात्माजी ने आत्मशुद्धि के लिए फिर २१ दिन का उपवास किया। गाधीजी पहले उपवास से बहुत निर्बल हो चुके थे। दूसरे उपवास से उनके जीवन पर सकट आ सकता था—इस कारण सरकार ने उपवास के पहले ही दिन उन्हे जेल से मुक्त कर दिया। स्वाधीन होकर महात्माजी हरिजनो के कष्ट-निवारण और दरिद्र-नारायण की सेवा मे लग गए।

लगभग छः वर्ष महात्माजी ने राष्ट्र को स्वाधीनता के युद्ध के लिए तैयार करने मे व्यतीत किए। १९३९ के सितम्बर मास मे यूरोप का दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो गया, जिसने कुछसमय के लिए भारत की राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अग बना दिया। ३ सितम्बर को इगलैंड भी युद्ध मे कूद पडा और भारतवासियो से किसी प्रकार का परामर्श किए विना ही अपनी इच्छा से भारत को भी युद्ध की अग्नि मे घसीट ले गया। महात्माजी की युद्ध के प्रति पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होने युद्ध की कार्यवाहियो के प्रति तटस्थ रहने की घोषणा की। उन्होने यह भी कहा कि वह किसी आन्दोलन द्वारा सकट के समय ब्रिटेन

की उलझन को वढायेंगे नही। यूरोप का दूसरा महायुद्ध लगभग छ. वर्षो तक रहा। इन वर्षों मे भारत के राजनीतिक रगमच पर कई पर्दे पडे और उठे। कुछ समय तक सन्नाटा रहा। सरकार की सारी शक्ति युद्ध में विजय प्राप्त करने मे लग गई। १९४१ मे एक वर्ष तक महात्माजी ने अपनी शान्तिमयी तलवार म्यान मे डाल ली थी। वर्ष के अन्त मे जापान के युद्ध मे कूद पड़ने से स्थिति गम्भीर हो गई। युद्ध की लहरें भारतीय सीमा पर टकराने लगी। सरकार के लिए भारत मे शाति रखना अनिवार्य हो गया। उधर इंगलैंड के प्रधान मत्री चर्चिल पर अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट का जोर पड रहा था कि भारत को शीघ्र ही उत्तरदायी शासन देकर युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध हो जाओ। सुलह का रास्ता ढूढने के लिए, इगलैंड की सरकार ने सन् १९४२ के आरंभ मे सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक ऐसी योजना देकर भारत भेजा, जिसका आधार भारत को हिन्दुओ और मुसलमानो मे वाटकर साम्राज्य के अतर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य देना था। क्रिप्स ने भारत मे आकर वहुत प्रयत्न किया कि वे भारतीयो को अपनी अद्भुत योजना पर रजामद कर ले। श्री राजगोपालाचार्य आदि कुछ नेता मानने को उद्यत भी हो गए परन्तु गाधीजी और कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओ ने उस योजना को सर्वथा अस्वीकार्य एव अग्राह्य समझा, जिससे निराश होकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स को अपना-सा मुह लेकर वापिस लौटना पड़ा।

इगलैंड की सरकार क्रिप्स योजना से आगे जाने को उद्यत नही थी और भारत स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए उतावला हो उठा था, फलत. राजनीतिक वातावरण का तापमान वहुत ऊचा चला

गया। वह स्थूल रूप मे तब प्रकट हुआ, जब १९४२ के अगस्त मास में बम्बई मे काग्रेस महासमिति का अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन मे महात्मा गाधी के प्रस्ताव पर यह घोषणा की गई कि अब समय आ गया है कि अग्रेज भारत से चले जाए। यह प्रस्ताव भारतीय इतिहास मे 'क्विट इडिया' या 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से प्रख्यात हुआ।

'भारत छोडो' की ललकार का उत्तर सरकार ने जिस आतुरता से दिया, भारत की विक्षुब्ध जनता की ओर से सरकार के उत्तर की प्रतिक्रिया भी उतनी ही आतुरता से हुई। महासभा मे प्रस्ताव स्वीकार होने के कुछ घटो के पश्चात् ही पुलिस ने गाधीजी, नेहरूजी, मौलाना आजाद और सरदार पटेल आदि प्रमुख नेताओ को सोते से जगाकर गिरफ्तार कर लिया। महात्माजी पूना के आगाखा महल मे नजरबद कर दिए गए और अन्य नेताओ को दूसरी जेलो मे काराबद्ध कर दिया गया।

नेताओ की अचानक गिरफ्तारी से देश पर बहुत गहरा और व्यापक असर पडा। क्रोध और प्रतिहिसा की जिस वृत्ति को गाधी जी ने तथा अन्य नेताओ ने रोक रखा था—वह रुके हुए ज्वालामुखी की भाति एकदम फूट पडी। देश के भिन्न-भिन्न केन्द्रो मे मारकाट और आग की सैकडो भयानक घटनाए हुई, जिन्हे दबाने के लिए सरकार की ओर से धडाधड गिरफ्तारिया की गई, गोलिया चलाई गई और कई बस्तियो पर हवाई जहाजों से बम भी बरसाये गए। जिस आतकवाद को महात्माजी ने निरतर प्रचार द्वारा बडे प्रयत्न से दबा दिया था, वह बरसाती बाढ़ के पानी की तरह देश मे चारो ओर फैल गया।

महात्माजी को इस बार के कारावास मे कई असह्य आघात पहुचे। पहला आघात देश मे हिंसात्मक आन्दोलन के जाग्रत होने से पहुचा। सरकार के अत्याचारो ने उनके दुःख को सौ गुना कर दिया। आत्मा की ज्वाला को शात करने के लिए उन्होने १० फरवरी को लम्बे उपवास का अनुष्ठान किया, जो २ मार्च को समाप्त हुआ। दूसरा आघात सबसे प्रिय और अंतरग शिष्य महादेवभाई देसाई की मृत्यु का पहुचा। उनका देहान्त हृदय-गति के रुक जाने से हुआ। तीसरी चोट उन सबसे भारी थी। फरवरी मास मे गाधीजी की जीवन-सगिनी आदर्श पतिव्रता साध्वी कस्तूरबा का प्राणान्त हो गया। उस समय सती का सिर अपने पति की गोद मे था। अपने जीवन-साथी के वियोग पर महात्मा जी ने कहा था—'बा के बिना जीवन की मै कल्पना नही कर सकता। उसकी मृत्यु से जो जगह खाली हुई है, वह कभी नहीं भरेगी। हम दोनो बासठ वर्ष तक साथ रहे...और वह मेरी गोद मे मरी, इससे अच्छा क्या हो सकता है.. मै वेहद खुश हू।"

इन शब्दो के साथ महात्माजी की आंखों से आसू ढुलक पड़े। डेढ मास पीछे उन पर मलेरिया का प्रकोप हुआ, जिससे उनका रक्तचाप बढ गया और जीवन सकटग्रस्त हो गया। उस समय देश भर मे चिता के कारण हाहाकार व्याप्त हो गया। जब सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर ने वाइसराय से मिलकर ऊच-नीच समझाया तब सरकार ने महात्माजी को जेल से मुक्त कर दिया।

महात्मा गाधी जीवन भर मे सब मिलाकर २०८९ दिन भारत की जेलो मे और २४९ दिन दक्षिण अफ्रीका की जेलो में

रहे। महात्माजी अतिम बार जेल से १९४४ मे रिहा हुए।

स्वतत्र हो कर महात्माजी को देश की कई गभीर समस्याओ के हल करने मे जुट जाना पडा। सबसे बड़ी समस्या हिन्दू-मुसलमानो के पारस्परिक सम्बन्धो की थी। स्वराज्य की माग के रास्ते में यह समस्या पहाड बनकर खडी हुई थी। वह मि० मुहम्मद अली जिन्ना जो कभी काग्रेसी होने का दावा करता था, धीरे-धीरे उस स्थान से फिसलता-फिसलता मुस्लिम लीग का नेता बनकर, भारत को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान इन दो भागो मे बाटने पर जोर दे रहा था। महात्माजी राष्ट्र की एकता मे विश्वास रखते थे, इस कारण विभाजन के कट्टर विरोधी थे। १९४४ के जुलाई मास मे महात्माजी ने जिन्ना से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया, जो परस्पर लम्बी बातचीत के रूप मे परिणत होकर देश भर की चर्चा का विषय बन गया। महात्माजी स्वय कई बार जिन्ना की कोठी पर गये परन्तु मि० जिन्ना टस से मस न हुए। आश्चर्य की बात यह थी कि जिस मि० जिन्ना ने सभवत जन्म भर मे पाच बार भी नमाज नही पढी थी, वही मजहब के आधार पर अलग राज्य की माग कर रहा था और गाधीजी, जिनका सारा जीवन धर्म के साचे मे ढला हुआ था, एक राष्ट्रीयता के आधार पर धर्म-निरपेक्ष राज्य की माग कर रहे थे। केवल भारत ही नही, सारा सभ्य ससार इस दृश्य को देखकर आश्चर्य-चकित हो रहा था।

उधर इगलैड के राज्याधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति और देश के बढते हुए विक्षोभ को देखकर इस परिणाम पर पहुच चुके थे कि अब भारत को स्वाधीन शासन का अधिकार देना

होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने लार्ड वेवल को भारत का वाइसराय बनाकर भेजा। लार्ड वेवल ने स्वराज्य का कोई सर्वसम्मत फार्मूला निकालने के लिए सब विचारो के नताओ का एक सम्मेलन बुलाया। उसमे सम्मिलित होकर महात्माजी ने भरसक यत्न किया कि किसी योजना पर सबका एकमत हो जाय परन्तु मि० जिन्ना की हठधर्मी ने सारे प्रयत्न विफल कर दिए।

इंगलैंड की सरकार और आगे बढी। उसने सन् १९४६ के मार्च मास मे भारत की उलझन को सुलझाने के लिए एक कैबिनेट मिशन भारत भेजा, जिसने दो महीने की छानबीन के बाद मई मास मे अपनी योजना प्रकाशित की। उस योजना में भारत के विभाजन का विरोध किया गया था। इसको स्वीकार कर लेने पर मि० जिन्ना की पाकिस्तान बनाने की माग काफूर हो जाती थी। अत' उनके अनुयायियो ने भयानक साम्प्रदायिक दंगों का ताता लगा दिया। इसी समुद्रमथन के मध्य लार्ड वेवल ने एक अस्थायी सम्मिलित मन्त्रि-मंडल की घोषणा कर दी, जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सदस्यो की संख्या बराबर-बरावर थी।

इधर शिमले मे अस्थायी सरकार का ताना-वाना वुना जा रहा था और उधर वगाल के नोआखली इलाके में मि० जिन्ना की घातक साम्प्रदायिक नीति अपना रंग दिखा रही थी। लार्ड वेवल के सम्मिलित मन्त्रिमंडल बनाने के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए विभाजन के पक्षपाती मुस्लिम लीगियों ने १६ अगस्त को देश भर मे 'सीधी कार्यवाही' का दिन मनाया। २४ अगस्त को नए मन्त्रिमडल मे सम्मिलित होने के अपराध मे एक धर्मान्ध मुसलमान ने शिमले मे सर शफात खां को छुरे से मार

दिया। २ सितम्बर को लार्ड वेवल की योजना के अनुसार प० जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधान मत्री बने। मि० जिन्ना ने उस दिन भारत के सब मुसलमानो को मातम का दिन मनाने का आदेश दिया। मि० जिन्ना की इस घातक नीति से देश मे जो साम्प्रदायिक आग लगी, वह पूर्वी बगाल के नोआखाली इलाके मे पूर्ण वेग से फूट पडी। वहा मसलमानो की आवादी अधिक थी। उन्होंने हिन्दुओ पर आक्रमण करके वहुत से जान से मार दिए, उनके घर जला दिए, लूट लिए। उन्हे वलात्कार से चोटी काट-कर मुसलमान वनने पर बाध्य किया। हिन्दू नारियो की इज्जत लूटी और अनेक देव-मदिरो को भस्मीभूत कर दिया। महात्मा जी को इन काण्डो से भीषण हार्दिक एव मानसिक सताप पहुंचा। वे उद्विग्न हो उठे। नोआखाली के अल्पसख्यको के व्रणो पर मरहम लगाने तथा वहा शाति का प्रसार करने के हेतु वे अपने समीपस्थ अनुयायियो की एक टुकडी के साथ वहा जा पहुचे। गाव-गाव मे पैदल घूमकर उस भीषण उपद्रवाग्नि को बुझाने का प्रयत्न करने लगे। स्वार्थ-साधको द्वारा उभाडे हुए धर्मान्ध मुसलमानो के मध्य में निरस्त्र घूमकर महात्माजी ने जो शाति-सदेश प्रसारित किया वह अद्भुत था, अनिर्वचनीय था। समस्त विश्व चकित रह गया। नोआखाली के मुसलमान गाधीजी की सच्ची शातिप्रियता और निष्पक्षता से अत्यन्त प्रभावित हुए। भीषण अमानुषिक हत्याकाड थम गए, वातावरण शात होने लगा किंतु लीगियो पर इस शाति-सदेश का कोई प्रभाव न पडा, वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए छुरेवाजी पर उतर आये थे।

नोआखाली कांड की प्रतिक्रिया विहार मे हुई। वहा २५

अक्टूबर को 'नोआखाली' दिवस मनाया गया । कुछ धर्मान्ध हिन्दुओ ने क्रोधित होकर नोआखाली का बदला लेने के लिए मुसलमानो को त्रस्त करना आरंभ कर दिया । उन्हे येन-केन-प्रकारेण मौत के घाट उतार देना ही उनका उद्देश्य था। कहा जाता है कि लगभग साढे चार हजार मुसलमान खुदा के प्यारे हुए। इन समाचारो ने महात्माजी के हृदय की वेदना को बढा दिया। जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता को वह अपने नैतिक कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे, जिस पर वह बार-बार जीवन की बाजी लगाते थे—आखो के सामने उसकी लाश उठती देख उनका दुखी होना स्वाभाविक था।

देश को मि० जिन्ना के दुराग्रह ने ऐसे सकट मे डाल दिया था कि अग्रेजी सरकार भारत का विभाजन करके पाकिस्तान निर्माण करने का जोरदार समर्थन करने लगी। यह समझकर कि संभवतः पाकिस्तान मिल जाने पर मि० जिन्ना और उनके अनुयायी शेष भारत मे स्वराज्य की स्थापना मे बाधक नही रहेंगे—लाचार होकर काग्रेसी नेताओ ने भी विभाजन को स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि १९४७ के आरम्भ में इंगलैड के प्रधान मत्री मि० एटली ने कामन्स सभा में घोषणा कर दी कि अंग्रेज सन् १९४७ से पूर्व ही भारत को छोडकर चले आयेंगे। छोड़ने से पूर्व मुसलमानो को सतुष्ट करना आवश्यक था । इसका एकमात्र उपाय भारत-विभाजन समझा गया था। महात्माजी विभाजन के कट्टर विरोधी थे परन्तु जब एक ओर नये गवर्नर-जनरल लार्ड माउन्टबेटन और दूसरी ओर कांग्रेसी नेता विभाजन को ही समस्या का एकमात्र हल मान रहे

थे तो महात्मा जी को भी दु.खित हृदय से उसे स्वीकृति प्रदान करनी पड़ी।

१५ अगस्त, सन् १९४७ को इगलैंड ने भारत को स्वाधीनता देदी किन्तु उसका विभाजनकर उसके शरीरके दो टुकडे कर दिए।

इस विभाजन का जो भयकर परिणाम हुआ, उसका उदाहरण इतिहास मे मिलना कठिन है। पाकिस्तान मे हिंदुओ पर और उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे भारत मे मुसलमानो पर विपत्तियो के जो पहाड टूटे, जैसी मार-काट और बरबादी हुई,उसे इतिहास के पृष्ठो पर लगभग एक करोड़ व्यक्तियों के गर्म रक्त से लिखा गया।

नोआखाली मे शातिमय वातावरण की स्थापना करने के पश्चात् महात्मा जी दिल्ली मे फैली साम्प्रदायिक अग्नि को शात करने के उद्देश्य से दिल्ली पधारे। धर्मान्धता के कलुषित वातावरण मे उनकी शीतल वाणी जादू का काम करने लगी। अपने आत्मिक बल के सहारे महात्माजी बहके हुए मनुष्यो को, जो पशुओ से भी गए-बीते हो चले थे, उबारने लगे। उपद्रव शात होने लगे। उनका यह चमत्कार देख सारा विश्व दातो-तले उगली दबाने लगा।

प्रतिदिन सायंकालिक प्रार्थना के अवसर पर महात्माजी जो भाषण करते थे—वे शाति के प्रसार मे परम सहायक सिद्ध होते थे। अत उन्हे प्रतिदिन अखिल भारतीय आकाशवाणी के केन्द्र से प्रसारित किया जाता था। उनकी शातिमयी अमृतवाणी सुनने के लिये अगणित नर-नारी प्रार्थना-सभा मे सम्मिलित होते थे, फिर भी कही न कही उपद्रव की भडकी हुई आग अपना

विकराल रूप दिखाने लग जाती थी। यह देखकर महात्माजी ने १३ जनवरी, १९४८ को दिन के ११ बजे उपवास प्रारम्भ कर दिया। देशवासी और सब कुछ सह सकते थे किन्तु महात्मा जी के प्राणो पर सकट का आना उन्हे असह्य था। यह उपवास विशेष रूप से दिल्ली के सम्बन्ध मे था। उपवास आरम्भ होने पर दिल्ली के प्रमुख हिदुओ और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं मे हलचल-सी मच गई। उन्होने एकमत होकर महात्माजी को विश्वास दिलाया कि वे शहर मे मुसलमानो की मारकाट बद करा देगे। इस आश्वासन के मिलने पर १८ जनवरी को महात्माजी ने उपवास तोड दिया और मौलाना आजाद के हाथ से नारगी के रस का गिलास लेकर उसे पी गए।

इस प्रकार आशा-जल से सिचित होकर महात्माजी के जीवन की लता पुन. हरी होने लगी थी कि परमात्मा के यहा से बुलावा आ गया। ३० जनवरी, १९४८ की संध्या को पांच बजकर पाच मिनट पर महात्माजी दैनिक प्रार्थना मे भाग लेने के लिए आभा और मनु के कंधों पर हाथ रखकर प्रार्थना-स्थान की ओर चल दिए। जब वे प्रार्थना के स्थान के समीप पहुच गए तो एक महाराष्ट्रीय नवयुवक नाथूराम गोडसे भीड को चीरता हुआ आगे आया। वह उनके चरणो की ओर झुका—उपस्थित जनता ने समझा कि वह उनकी पावन-रज को मस्तक पर धारण करना चाहता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपनी जेब से रिवाल्वर निकाल ली और ठाय-ठाय करके तीन गोलिया महात्मा जी के सीने मे दाग दी—पावन रज के स्थान पर उसने उनकी हत्या के कलक का टीका अपने मस्तक पर लगा लिया।

महात्माजी ने अपने हत्यारे को दया-दृष्टि से देखा, उसको हाथ जोड़ दिए, और 'हे राम' उच्चारण करते हुए निर्जीव होकर गिर पड़े। एक हिन्दू नामधारी पागल ने एक सच्चे हिन्दू के पावन रक्त से अपने हाथ रंग लिए।

सारा देश स्तब्ध रह गया। उनके अंतिम दर्शनों को विश्व के कोने-कोने से अगणित नर-नारी आये। सांप्रदायिक बलिवेदी पर एक सत्य-अहिंसा प्रेमी महान् मानव की बलि दे दी गई थी। मनुष्य जाति को इस प्रकार अनाथ करके बापू अपने राम का नाम लेते हुए उसके धाम की यात्रा पर चल दिए।

भारत की स्वाधीनता के पिता तुम्हें हजार बार प्रणाम!

डा० राजेन्द्रप्रसाद जी

: १२ :

डा० राजेन्द्रप्रसाद् जी

यदि स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेद्र-प्रसाद की किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से उपमा देनी हो तो राजा जनक का नाम याद आता है। राजा जनक आदर्श कर्मयोगी थे। वह राज्य के जलाशय मे कमल-पत्र की तरह तैरते थे। डा० राजेन्द्रप्रसादजी की भी यही दशा है। उनका सारा जीवन कर्मयोग का एक लम्वा अध्याय है। अन्य देशो के प्रमुख शासको पर जो प्रतिबन्ध सविधान या कानून द्वारा लगाये जाते है, भारत के प्रथम राष्ट्रपति पर वह उनकी सात्विक प्रकृति ने लगा दिये है। उनका सारा जीवन देश की निष्काम सेवा मे व्यतीत हुआ है। कवि ने ठीक ही कहा है—'बिन मागे मोती मिले, मागे मिले न भीख।' राजेन्द्र बाबू ने कभी कोई पद नही चाहा और उन्हे एक के पीछे दूसरे अधिकार के आसन मिलते गये। यहा तक कि स्वतन्त्र भारत की प्रजा जो सवसे वडा आसन दे सकती थी, उस पर कुछ न चाहने वाले राजेन्द्र बाबू को विठा दिया। इसे उनकी निष्काम तपस्या का ही फल समझना चाहिये।

डा० राजेन्द्रप्रसाद का जन्म सन् १८८४ के ३ दिसम्बर के दिन, विहार के सारन जिले के जीरादेई नामक ग्राम मे एक सम्पन्न-कायस्थ परिवार मे हुआ था। आपके पिता का नाम बाबू महादेवसहाय था। महादेवसहायजी शतरंज के अच्छे

खिलाडी थे और कसरत और घुड़सवारी का उन्हे बहुत शौक था। वे फारसी के अच्छे विद्वान् थे। वैद्यक भी जानते थे। घर की दशा सम्पन्न थी, इस कारण रोगियो को मुफ्त दवाई बाटा करते थे। राजेन्द्र बाबू की माता श्री कवलेश्वरी देवी धर्मपरायणा नारी थी। उन्हे तुलसी रामायण से बहुत प्रेम था। प्रात काल के समय रामयण का सस्वर पाठ करना उनका नित्य नियम था। राजेन्द्र बाबू के स्वभाव पर पिता की समाज-सेवा और माता की धर्मपरायणता की गहरी छाप दिखाई देती है।

बालक राजेन्द्र की शिक्षा छः वर्ष की अवस्था मे घर पर ही आरभ हुई थी। उनके दादा श्री चौधुरलालजी ने घर पर ही सव बालको को पढाने के लिए एक मौलवी साहब को लगाया हुआ था। वहा राजेन्द्र बाबू ने हिसाब और फारसी की प्रारभिक शिक्षा पाई। स्कूल की ऊची शिक्षा प्राप्त करने के लिए आपको छपरा भेज दिया गया। छपरा मे उनके बडे भाई रहते थे। दोनो भाई एक किराये के मकान मे रहने लगे और रसोई आदि के लिए एक नौकर रख लिया। राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा वचपन से ही पढने मे खूब चलती थी। उनके शिक्षक यह अनुभव करते थे कि यदि इस बालक की पढाई निर्विघ्न चलती रही तो यह किसी दिन बहुत ऊचा पद प्राप्त करेगा। आप मे सबसे बड़ा गुण यह था कि आप एकचित्त होकर पढाई मे लगे रहते थे, कभी कोई विघ्न बीच मे न आने देते थे। आपके सतत् परिश्रम का परिणाम यह हुआ कि आप कलकत्ता विश्व-विद्यालय की मैट्रिकुलेशन परीक्षा मे सब सफल विद्यार्थियो मे से सर्वप्रथम रहे। यह पहला अवसर था जब बिहार का कोई

विद्यार्थी कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रिकुलेशन परीक्षा में सर्वप्रथम रहा हो। राजेन्द्र बाबू की इस सफलता ने सारे बिहार प्रदेश की आखे उनकी ओर आकृष्ट कर दी। कालेज मे शिक्षा प्राप्त करने के लिये आप कलकत्ते के प्रेजीडेंसी कालेज में प्रविष्ट हुए। वहा भी आपने बाजी मार ली। इन्टरमीजिएट और बी० ए० की परीक्षा मे भी आप सर्वप्रथम रहे। प्रैजीडेंसी कालेज से ही आपने एम० ए० परीक्षा भी पास की। आपके पिता की इच्छा थी कि उनका पुत्र वकील बनकर खूब पैसा पैदा करे। पिता की इच्छानुसार राजेन्द्र बाबू ने १९१५ में कानून की सबसे बडी एम० एल० परीक्षा मे सफलता प्राप्त की।

शिक्षा-प्राप्ति के दिनो मे ही राजेन्द्र बाबू का मन सार्वजनिक कामों की ओर झुक गया था। कलकत्ते मे 'डान सोसायटी' नाम की एक सस्था थी, जिसके सचालक श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी थे। उसका उद्देश्य नवयुवकों मे ऊंचे विचारो को जाग्रत करना था। राजेन्द्र बाबू उसके प्रमुख सदस्य थे। आपने कई विचारपूर्ण निबन्ध उसमे पढे। जब बग-भग का आन्दोलन चला, तब छात्र होने के कारण अधिक भाग न लेने पर भी आपने स्वदेशी का व्रत धारण कर लिया था। हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी कार्यो में भी आप बहुत दिलचस्पी लेते थे। आपका उस अवस्था का एक स्मरणीय कार्य था 'बिहार स्टूडेंट्स यूनियन' की स्थापना। बगाल के दृष्टांत से प्रभावित होकर बिहार मे छात्रो के सगठन का सूत्रपात आपने ही किया था।

एम० ए० परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर पहले राजेन्द्र बाबू शिक्षक बने। मुजफ्फरपुर के कालेज मे सब मिलाकर एक वर्ष

तक कार्य किया, जिसमे कुछ समय तक प्रोफेसर रहकर फिर स्थानापन्न प्रिंसिपल के पद पर प्रतिष्ठित रहे। परन्तु पिता की इच्छानुसार एक वर्ष पीछे ही शिक्षक का कार्य छोड़कर वकालत का छात्र बनना पड़ा। एम० एल० परीक्षा मे आपका नम्बर बहुत ऊचा रहा।

आपने वकालत का प्रारम्भ कलकत्ते मे किया। प्रतिभा-सम्पन्न और परिश्रमी तो आप थे ही, कानून के पेशे मे शीघ्र ही चमक उठे। कुछ वर्ष पीछे पटना मे हाईकोर्ट की स्थापना हो गई, तब आप कलकत्ते से पटना चले गये। वहा आपको हाईकोर्ट के वकीलो का मूर्धन्य बनने मे देर न लगी। आपकी ख्याति प्रदेश भर मे फैल गई। जानकार लोग आपकी योग्यता से प्रभावित होकर अनुमान लगाने लगे कि आप शीघ्र ही पटना हाईकोर्ट मे जज बना दिये जायेगे।

जब राजेन्द्र बाबू पटना मे वकालत करते थे, तभी महात्मा गान्धी भी रामकुमार शुक्ल के निमन्त्रण पर चम्पारन गये। जिस दिन महात्माजी पटना पहुचे, राजेन्द्र बाबू वहा नही थे। महात्माजी पटना मे राजेन्द्र बाबू के घर गये, किन्तु वहा के नौकरो ने उन्हे नही पहचाना। महात्माजी उन दिनो नगे पाव फकीरी वेष मे रहते थे। नौकरो ने उन्हे वकील साहब का कोई गरीब मुवक्किल समझकर टाल दिया। यह बात पटना के दूसरे सामाजिक नेता मौ० मजरूल हक को मालूम हुई तो वह गाधीजी को अपने घर ले गये। महात्माजी पटना से मोतीहारी चले गये। जब घर लौटने पर राजेन्द्र बाबू को सब समाचार मिले तो वह तत्काल मोतीहारी को चल दिये। वहा जाकर देखा

कि महात्माजी के नील-सम्बन्धी आदोलन से रुष्ट होकर सरकार उन पर अभियोग चलाना चाहती है। महात्माजी स्वय तो जेल जाने की तैयारी मे थे परन्तु उन्हे भविष्य की चिन्ता थी। उन्होने वहा के कार्यकर्ताओ से पूछा कि मेरे जेल जाने के बाद आप लोग क्या करेगे ? इस प्रश्न ने मानो राजेन्द्र बाबू के हृदय मे तेज को जगा दिया। आपने उत्तर दिया कि हम आपके कार्य को पूरा करेगे। हम तब तक यहा से नही जायेगे, जब तक आपके प्रारम्भ किये कार्य को पूरा न कर ले।

सरकार ने महात्माजी को जेल नही भेजा। उसकी हिम्मत बीच मे ही टूट गई और अभियोग वापिस ले लिया। वह कांड तो समाप्त हो गया, परन्तु राजेन्द्र बाबू ने उस प्रसग मे महात्मा-जी के सामने देश-कार्य के प्रति जो आत्म-समर्पण किया था, वह समाप्त नही हुआ। जिस गुरु-शिष्य भाव की उस अवसर पर स्थापना हुई, वह महात्माजी के जीवनपर्यन्त न केवल विद्यमान् रहा अपितु प्रतिदिन गहरा होता गया। यहां तक कि अन्त मे राजेन्द्र-बाबू महात्माजी की प्रतिमूर्त्ति ही बन गये।

जब कांग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम को अपनाकर वकीलो से वकालत छोडने की मांग की तो बिहार के वकीलों मे से वकालत छोडने वालो मे राजेन्द्र बाबू का नाम पहला था। आप वकालत का परित्याग करके मौ० मजरुल हक के 'सदाकत आश्रम' मे जाकर रहने लगे और अपना सारा समय देश-सेवा के कार्य मे लगाने लगे। वहां रहते हुए आपने बिहार विद्यापीठ की योजना बनाकर कार्यान्वित करने के अतिरिक्त कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने मे बिहार का नेतृत्व किया।

शीघ्र ही आप बिहार प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ नेता माने जाने लगे।

१९२७ में राजेन्द्र बाबू को अपने एक मित्र के मुकदमे के सिलसिले मे विलायत जाना पडा। यह मुकदमा उन्होने कई वर्ष पूर्व ले लिया था। जब वह प्रिवी कौसिल मे पहुचा तो राजेन्द्र बाबू को इगलैड जाना पडा। मुकदमा समाप्त होने पर आप यूरोप के भ्रमण को निकल गये। आस्ट्रिया मे एक युद्ध-विरोधी सम्मेलन मे हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने के कारण वहा के कुछ लोगो ने आप पर आक्रमण कर दिया, जिससे आपके कई चोटे आई। स्विट्जरलैण्ड जाकर आप प्रसिद्ध लेखक रोम्या रोला से मिले।

१९३० में जोरदार सत्याग्रह-आन्दोलन आरभ होनें पर आपके कुशल नेतृत्व के कारण बिहार प्रदेश मे आन्दोलन का बहुत जोर बध गया। बिहार के कारागार सत्याग्रही कैदियो से भर गये। इससे रुष्ट होकर सरकार ने आपको भी हजारीबाग की जेल मे डाल दिया।

हजारीबाग जेल का जलवायु बहुत खराब था। अन्य व्यवस्था भी अच्छी नही थी। फलत. राजेन्द्र बाबू को सास का रोग हो गया। आपके शरीर पर जो यह रोग का स्थायी राहु लगा हुआ है, वह जेल की ही देन है। जेल से छूटने पर आपको लम्बे समय तक हस्तपाल मे रहना पडा। अभी आपका स्वास्थ्य पूरी तरह सुधरा भी नही था कि बिहार मे सन् १९३४ का प्रलयकर भूकम्प आ गया। उस भूकम्प ने बिहार के प्रत्येक अग को घायल कर दिया। बडे-बडे शहर ईट और मिट्टी के ढेर रह गये। खेतो मे मनुष्य के सिर से

भी ऊंचा पानी भर गया। बहुत से पुराने नदी-नाले सूख गये और बस्तियो के गली-कूचो मे दरिया बहने लगे। राजेन्द्र बाबू अपने बिहार की ऐसी दशा देखकर हस्पताल में कैसे बैठे रह सकते थे? आप हस्पताल से वाहर आ गये और 'बिहार अर्थ-क्वेक रिलीफ सोसाइटी' की स्थापना करके उसके द्वारा प्रदेश की सेवा करने लगे। जिन लोगो ने आपको रोग की परवाह न करके उन दिनो भूकम्प-पीड़ितो की सेवा का कार्य करते देखा था, उन्होने अनुभव किया था कि राजेन्द्र बाबू के कृश शरीर मे अत्यन्त प्रवल आत्मा का निवास है। देश पर आपकी सेवाओ का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वर्ष के अन्तिम भाग मे काग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, आप उसके अध्यक्ष चुने गये।

अध्यक्षता के वर्ष में और उसके पश्चात् भी आप निरन्तर देश-सेवा के कार्य मे लगे रहे। काग्रेस का कोई आदोलन ऐसा नही उठा, जिसमे आपने आगे वढकर काम न किया हो। निरन्तर भाग दौड़ से आपको फिर सास के रोग ने आ दवाया। अभी आप इलाज ही करा रहे थे कि १९४२ का 'भारत छोडो' आंदोलन शुरु हो गया। जिस दिन काग्रेस की महासमिति ने महात्माजी द्वारा उपस्थित किये गये प्रस्ताव द्वारा अग्रेजो को भारत से चले जाने को ललकारा, उससे अगले दिन घबराई हुई सरकार ने भारत के लगभग सव राष्ट्रीय नेताओ को गिरफ्तार कर लिया। जो बम्बई मे थे वे तो पकड़े ही गये, जो रेल में सफर कर रहे थे या हस्पताल मे इलाज करा रहे थे, उन्हे भी नही छोडा। राजेन्द्र वाबू को हस्पताल मे ही गिरफ्तार कर लिया गया।

१९४४ के पश्चात् भारत का राजनैतिक घटनाचक्र वड़े

वेग से चलने लगा। १९४५ मे प्राय सब नेता जेलो से छोड दिये गये। '४६ मे काग्रेस और सरकार मे बातचीत चलती रही। '४७ मे अग्रेजो ने भारत खाली कर देने का निश्चय कर लिया और १५ अगस्त के दिन विधिपूर्वक भारत के शासन की बागडोर भारत वासियो के हाथ मे दे दी। जो पहली राष्ट्रीय अन्तरिम सरकार बनी, उसमे राजेन्द्र बाबू कृषि मन्त्री बनाये गये। स्वतत्र भारत का सविधान बनाने के लिये १९४६ मे जो सविधान सभा बनाई गई, आप उसके अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। १९४७ मे आप काग्रेस के भी अध्यक्ष चुने गये। इस तरह देश ने आपको एक के पश्चात् दूसरा सम्मानित पद देते हुए १९५० मे उस पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया, जो राष्ट्र की दृष्टि मे सबसे अधिक सम्मानित था। आप भारतीय गणराज्य के पहले राष्ट्रपति चुने गये।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने पाकिस्तान बनने से एक वर्ष पहले १९४६ मे 'इन्डिया डिवाइडेड' नाम की एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसके उपलक्ष मे आपको विश्वविद्यालय ने 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि से विभूषित किया। अपने देश की राष्ट्र-भाषा हिन्दी से आपको अगाध प्रेम था। आप दो बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये। राष्ट्रीय शिक्षा मे राजेन्द्र बाबू की विशेष आस्था थी। बिहार विद्यापीठ की स्थापना की चर्चा हम पहले कर आये हैं। आपने अग्रेजी काल के प्रमुख स्वतत्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय गुरुकुल मे तीन बार दीक्षान्त भाषण करके राष्ट्रीय शिक्षा से अतुल प्रेम को सूचित किया है। राष्ट्रपति पद पर चुने जाने के पश्चात् आपने जो पहला

सार्वजनिक भाषण किया, वह गुरुकुल कागडी मे १९५१ का दीक्षान्त भाषण ही था।

हमारे तपस्वी और कर्मयोगी राष्ट्रपति की सबसे बड़ी विशेषता उनके स्वभाव की सरलता है। नम्रता उनमे कूट-कूट कर भरी है। जो लोग उन्हे राष्ट्रपति बनने से पूर्व मिलते रहे है और पीछे भी मिले है, उन्हे यह देखकर आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता होती है कि मकान, सामान और वेप-भूषा बदल जाने पर भी और राष्ट्रपति पद पर आरूढ होने पर भी आप वही हस-कर मिलने वाले और हाथ जोडकर नमस्कार करने वाले राजेन्द्र बावू बने हुए है। वेष-भूपा मे जो परिवर्तन हुआ है, उस पर प्रधान मन्त्री की गहरी छाप है और सिर पर सर्वथा ठीक कोण-कट टोपी रखने और कपडो को चुस्ती से पहनने मे प्राइवेट सेक्रे-टरियो तथा सुशिक्षित नौकरो का हाथ है। अन्यथा आज भी राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद वही धरती के सच्चे देहाती सुपूत प्रतीत होते है, जो १९४७ से पहले थे।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

: १३ :

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

भाग्य ने प० जवाहरलाल नेहरू को जिन परिस्थितियों में जन्म दिया था, वे एक साधारण व्यक्ति को सुखार्थी नागरिक बनाने के लिये पर्याप्त होती है। वह फूलो की सेज पर उत्पन्न हुए और मखमल के गदेलो मे पले। जिस भवन मे उन्होने संसार में प्रवेश किया, अपने समय मे उसकी शान राजमहलों को मात देती थी और भवन के मालिक पर लक्ष्मी बरस रही थी। ऐसी परिस्थितियो मे उत्पन्न होकर और पलकर कोई भी सामान्य व्यक्ति लक्ष्मीवानो के विलासितापूर्ण जलप्रवाह मे वह सकता था, परन्तु प० जवाहरलालजी अपवाद बन गये। इसके अनेक कारण हुए। एक समय आया जब जवाहरलालजी के पिता प० मोतीलालजी के जीवन मे क्रांति उत्पन्न हो गई, जिससे घर का वातावरण बदल गया। राष्ट्र की पतवार महात्मा गांधी जैसे तपस्वी नाविक के हाथ मे आ गई, जिससे जवाहरलाल-जी के आन्तरिक शुभ सस्कारो के विकास को पूरा अवसर मिल गया। प० जवाहरलाल नेहरू, जिनका जीवन-चरित्र आनन्द भवन मे अकुरित हुआ और हैरो तथा कैम्ब्रिज मे मुकुलित हुआ, वह गाधी जी के सत्याग्रह, और अग्रेजी सरकार के कारागारों के जलवायु मे पलकर विकसित पुष्प के रूप मे परिणत हो गया। विकास की जिस प्रक्रिया से जवाहरलालजी का चरित्र और यश वर्तमान गौरव तक पहुंचा है, वह प्रक्रिया अभी जारी है।

नई-नई परिस्थितिया उसपर नई प्रतिक्रियाये उत्पन्न करके उस विकास के क्रम को जारी रखे हुए हैं, इस कारण आज उनका जो चरित्र-चित्रण किया जाये वह वस्तुत अपूर्ण ही होगा। वर्तमान चित्र उस भविष्य मे बनने वाले पूर्ण चित्र का प्रारूप-मात्र होगा।

जवाहरलालजी के पूर्व पुरुप लगभग सवा दो सौ वर्ष पूर्व काश्मीर से आकर दिल्ली में बस गये थे। सन् १८५७ की राज्य-क्राति तक वह परिवार जो यहा नहर सादतखा के पास रहने के कारण नेहरू कहलाने लगा था, दिल्ली में रहा। शहर-कोतवाल पं० गगाधर ने इसी वश मे जन्म लिया था। जब दिल्ली पर फिर से अग्रेजी सेना ने अधिकार जमा लिया, तब इस बार-बार बनने और उजडने वाले नगर के पुराने निवासी नगर छोडकर चारो ओर तितर-बितर हो गये। श्री जवाहरलालजी के परदादा प० गगाधर जी उन्ही निवासियो मे थे। वह आगरे जाकर वही बस गय।

प० मोतीलालजी का जन्म १८६१ ईस्वी के मई मास मे हुआ। आप वकालत पास करके पहले कानपुर मे और फिर इलाहाबाद मे प्रैक्टिस करने लगे। प० मोतीलालजी के स्वभाव की यह विशेषता थी कि वह जिस कार्य मे लगते, उसमे पूरा दिल और पूरा बल लगा देते थे। प्रतिभा तेज ही थी, बहुत शीघ्र वकालत चमक उठी, और ऐसी चमकी कि वे कुछ ही वर्षो मे न केवल इलाहाबाद हाईकोर्ट, अपितु सारे देश के मूर्धन्य वकीलो मे गिने जाने लगे। कामयाब वकील को कमाई की कमी नही रहती। कहा जाता था कि प० मोतीलाल नेहरू की वकालत की मासिक

कमाई औसतन तीस-चालीस सहस्र रुपयो तक पहुच गई थी। आपने अपने बगले का नाम 'आनन्द भवन' रखा था। वह सचमुच आनन्द का भवन बन गया था। उसकी विभूति गवर्नर की कोठी की विभूति को मात करती थी।

१४ नवम्बर, १८८९ को मोतीलालजी के घर मे जवाहरलालजी ने जन्म लिया। आपकी माता का नाम स्वरूपरानी था। ऐसे समृद्ध और सुसगठित घर मे जन्म लेकर यह स्वाभाविक ही था कि जवाहरलालजी का बचपन दुलार मे बीतता। माता के दुलार के साथ-साथ तेजस्वी पिता का अनुशासन भी चल रहा था। एक बार की बात है कि बालक ने अपने पिता की मेज पर दो फौन्टेन पैन पड़े देखे। उसके पास एक भी पैन नही था। प्रतीत होता है, बालक जन्म से ही साम्यवादी विचार लेकर आया था। उसने सर्वथा उचित समझकर एक पैन उठा लिया। प० मोतीलालजी को मालूम हुआ तो वह बहुत बिगडे। उनका बिगडना प्रसिद्ध था। उससे घर भर काप जाता था। खोज की गई तो चोर पकडा गया। मोतीलालजी ने अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिये इतना मारा कि वह घायल हो गया। माता घायल बच्चे को बचाकर ले गई, और मरहम-पट्टी कराई। सूर्य के समान तेजस्वी पिता के पुत्र को माता की गोद वृक्ष की ठण्डी छाया के समान प्रतीत होती थी। जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि उन्हे अपनी माता बडी ही सुन्दर, अत्यन्त मधुर और दया की मूर्ति प्रतीत होती थी।

१९०५ तक जवाहरलाल जी की शिक्षा घर पर होती रही, उसके पश्चात् उन्हे विलायत भेज दिया गया। वहां जाकर पहले

हैरो के प्रसिद्ध हाई स्कूल मे और फिर आक्सफोर्ड के विश्वविद्या-लय में शिक्षा पूर्ण करके वह वैरिस्टरी की तैयारी मे लग गये। दो वर्ष उसमे लगे। १९१२ मे जवाहरलाल जी विलकुल अपटुडेट वैरिस्टर वनकर अपने देश मे वापिस आ गये।

विलायत मे शिक्षा प्राप्त करने से जवाहरलालजी के जीवन पर कुछ स्थायी प्रभाव पड गये। इगलैंड मे इतने समय तक रहने से उनके जीवन मे नियन्त्रण की वह भावना उत्पन्न हो गई, जो अग्रेजो की सफलता की कुजी है। ऊपर से देखने में अंग्रेजो के जीवन स्वच्छन्द प्रतीत होते है, परन्तु गह-राई में जाकर देखें तो वे राष्ट्रीय नियन्त्रण मे वन्धे रहते है। जवाहरलालजी के चरित्र मे नियन्त्रण की जो अद्भुत प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसमे इगलैंड की शिक्षा का भी भाग है।

इगलैंड मे चिरकाल रहने का जवाहरलालजी के चरित्र पर दूसरा प्रभाव यह पडा कि उन दिनो भारत के पराधीनता-पूर्ण वातावरण मे रहते हुए, शासक-जाति के लिये मन मे जो अनावश्यक आदर-भाव उत्पन्न हो जाया करता था, जवाहरलाल जी ने अग्रेजो के अति समीप रहकर उनके वास्तविक रूप को देख लिया। उसमे गुण भी थे और दोष भी। फलत उनके हृदय में से अग्रेजो के प्रति आतक की भावना सर्वथा निकल गई।

भारत में वापिस आकर जवाहरलालजी ने कुछ वर्षो तक समृद्ध पिता के एकमात्र बैरिस्टर पुत्र का जीवन व्यतीत किया। उनका काम था, कचहरी मे घूम आना और शिकार खेल आना। यह नही था कि आपकी राजनीति की ओर प्रवृत्ति न हो। राजनीति आपकी नस-नस मे भरी थी, परन्तु उस समय

की प्रचलित राजनीति पर उनका भरोसा ही नही था। होमरूल के आदोलन ने उन्हे थोड़ा-बहुत अपनी ओर खीचा, परन्तु उस मे भी आपको बाते ही बातें दिखाई दीं। उनके मन मे यह प्रश्न रह-रहकर उठता था कि यदि सरकार हमारी उचित मांग को पूरा न करे तो फिर हम क्या करे? हमारे पास कौन-सा उपाय है, जिसका प्रयोग सरकार को झुका सके?

१९१६ के वसन्तपचमी के दिन दिल्ली मे जवाहरलालजी का शुभ विवाह कमलाजी से सम्पन्न हुआ।

१९१९ के प्रारम्भ मे भारत की राजनीति ने नये युग में प्रवेश किया। महात्मा गाधी ने रौलट ऐक्टो के विरोध में सत्याग्रह जारी करने की घोषणा की। उसके परिणामस्वरूप देश में जो सनसनीपूर्ण घटनाये हुई, उन्होने देश का रग ही पलट दिया। जो देशभक्त तब तक देश की राजनीति से इस कारण उदासीन रहते थे कि उसमे बातो की मुख्यता और कार्य की कमी थी, सत्याग्रह के प्रयोग से उनके हृदयो में आशा का संचार हो गया। उन्हे इस प्रश्न का उत्तर मिल गया कि यदि सरकार हमारी मागों को स्वीकार नही करेगी, तो हम उसपर दबाव कैसे डाल सकेंगे? उन्होने अनुभव किया कि सरकार के दुराग्रह का उचित उत्तर देशवासियों द्वारा सत्याग्रह है। जवाहरलालजी भी ऐसे ही देशभक्तों मे से थे। फलत: उन्होंने भी महात्मा गाधी जी के कदम पर कदम रखते हुए, १९१९ मे भारत की राजनीति मे प्रवेश किया।

जब जवाहरलालजी ने सत्याग्रह मे भाग लेने का निश्चय किया तो एक अद्भुत बाधा खडी हो गई। पं० मोतीलालजी

ऊपर के व्यवहार मे चाहे जितने खुरदरे थे, हृदय मे वह अपनी सन्तान से वहुत प्यार करते थे। उस समय जेल एक हौआ था। उसमे जाना मरने से वदतर समझा जाता था। मोतीलाल जी को यह वात वहुत वेढगी प्रतीत होती थी कि फूलो की सेज पर पला हुआ उनका एकमात्र वेटा जेल चला जाये। जव उन्हे यह मालूम हुआ कि जवाहरलाल सत्याग्रह मे भर्ती होने को तैयार है, तो वह वहुत रुष्ट हो गये और पुत्र को समझाने लगे। जव उससे भी लाभ न हुआ तो महात्मा गाधी को तार देकर इलाहा-वाद वुलाकर जवाहरलालजी को रोकने की प्रार्थना की। महात्माजी तो भक्त-वत्सल थे ही, उन्होने जवाहरलालजी को समझा-वुझाकर उस समय सत्याग्रह मे सम्मिलित होने से रोक दिया।

उस समय तो महात्माजी के वन्द लगाने से पानी की वाढ रुक गई, परन्तु वाढ कव तक रुक सकती थी! जवाहरलालजी का हृदय देश की सेवा मे कूदने के लिये उतावला हो रहा था। छोटी-छोटी घटना भी उनके उतावलेपन को वढा देती थी। १९२० मे आप माता और पत्नी को स्वास्थ्य-सुधार के लिये मसूरी ले गये। वहा आप सेवाय होटल मे ठहरे। उसी होटल मे अफगान का राजदूत भी ठहरा हुआ था। जवाहर-लालजी को वहां रहते एक मास व्यतीत हो चुका था कि एक अंग्रेज अफसर ने आपसे मिलकर यह आश्वासन मागा कि वह अफगान राजदूत से कोई वास्ता न रखेगे। जवाहरलालजी ने सरकार की इस माग को अपमानजनक माना और आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। सरकार को एक भारतवासी का

यह व्यवहार असह्य हो गया, और उसने जवाहरलालजी को २४ घण्टों मे देहरादून के जिले से निकल जाने की आज्ञा दे दी। जवाहरलालजी तो नियत समय मे देहरादून से चले गये परन्तु इस घटना के देशभर के समाचार-पत्रो मे छपने पर सरकार पर जो लानत की बौछार पडी, उससे सरकार इतनी घवरा गई कि उसे अपना नादिरशाही हुक्म वापिस लेकर छुटकारा पाना पड़ा। इस घटना पर प० मोतीलालजी ने उस समय सयुक्त प्रात के गवर्नर सर हरकोर्ड बटलर को ऐसा करारा पत्र लिखा था कि वह भी सटपटा गया।

कुछ समय पीछे अवध के किसानो मे जवर्दस्त आन्दोलन आरम्भ हो गया। उसने जवाहरलालजी को राजनीति मे प्रवेश का अभीष्ट अवसर दे दिया। अवध के किसानों की दशा जागीरदारी प्रथा के कारण वहुत खराव होती जा रही थी। बाबा रामचन्द नाम के एक कर्मठ सज्जन उनकी करुण-कहानी लेकर इलाहावाद आये। वहाँ उनकी जवाहरलालजी से भेट हो गई। कहानी सुनकर जवाहरलालजी का हृदय पसीज गया, और वह अपनी आंखो से किसानों की दशा देखने के लिये वावाजी के साथ चल दिये। वस, वह जवाहरलाल जी की उस लम्वी, संघर्षपूर्ण राजनीतिक यात्रा का प्रथम चरण था, जिस की आज तक भी समाप्ति नही हुई। आप जव किसानों की दशा देखने के लिये निकले, तव केवल एक जिज्ञासु थे और आज स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री है। आपकी इस लम्वी सार्वजनिक जीवन की यात्रा का प्रेरक कारण एक यही रहा है कि जहा कही भी अन्याय होता दिखाई दे, आप वहा कूद पड़ते

है, और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर और सब खतरे उठाकर उसे मिटाने का यत्न करते है ।

अवध के किसानो मे जाकर आन्दोलन मे भाग लेने से जवाहरलालजी के सामने जो एक बांध-सा लगा हुआ था, वह टूट गया, आप नि शक भाव से देश के राजनीतिक कार्यक्षेत्र मे प्रविष्ट हो गये। १९१९ मे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व सभालने के वाद महात्माजी ने जव और जो कार्यक्रम राष्ट्र के सामने रखा, जवाहरलालजी उसके पूरा करने मे सबसे आगे रहने लगे। जानकार लोगो का विचार है कि जवाहरलालजी की सेना की अगली पक्ति मे खड़े होकर युद्ध करने की प्रवृत्ति का पण्डित मोतीलालजी पर भी प्रभाव पड़ा। पण्डित मोतीलाल जी की १९१८ के अन्त तक माडरेट नेताओ मे गिनती की जाती थी। पजाव के मार्शल-ला और जलिया वाला वाग के हत्या-काण्ड ने उन्हे माडरेटो के गिरोह मे से निकाल कर महात्माजी के पास खड़ा कर दिया। परन्तु पुराने सव राजनैतिक सबधों को तोड़कर उनके सत्याग्रहियो की सेना के अन्यतम नेता वन जाने का वहुत कुछ श्रेय जवाहरलालजी को दिया जा सकता है। ज्यो-ज्यो जवाहरलालजी शत्रु-सेना की गहराई मे घुसते गये, त्यो-त्यो पण्डित मोतीलालजी का कदम भी आगे ही आगे वढता गया। यहा तक कि कुछ वर्षो मे पण्डित मोतीलाल जी का स्थान देश की राजनीति मे महात्माजी के अत्यन्त निकट समझा जाने लगा।

इंगलैड के युवराज के भारत आने पर असहयोग के रूप में काग्रेस ने युवराज के स्वागत का वहिष्कार किया। बहिष्कार मे

भाग लेने के कारण पिता और पुत्र दोनो नेहरू गिरफ्तार हो गये और लखनऊ की जेल मे भेज दिये गये। पण्डित मोतीलाल जी को सरकार ने अधिक खतरनाक समझकर छ. महीनों तक जेल मे रखा, परन्तु जवाहरलालजी को शायद कम खतरनाक समझकर तीन महीनो मे ही छोड़ दिया। जवाहरलालजी भला इस अपमान को कहा सहने वाले थे? बाहर आते ही उन्होंने फिर से बहिष्कार आदोलन मे भाग लेना आरम्भ कर दिया। इस बार सरकार को यह भान हो गया कि यह सुन्दर युवक सर्वथा निर्लेप नही है। अदालत ने आपको खतरनाक दोषी करार देकर एक वर्ष नौ महीने की सजा दी। यह सजा भी पूरी न हो सकी। देश की परिस्थिति को कुछ शात देखकर सयुक्त प्रात की सरकार ने कौसिल के एक प्रस्ताव का सहारा लेकर ३१ जनवरी, १९२२ को सब राजनैतिक बन्दी छोड़ दिये। छूटे हुए वन्दियो मे जवाहर-लालजी भी थे।

जवाहरलालजी मे कुछ ऐसी विशेषताये थी जिन्होने उन्हे तीन ही वर्षो मे देश के प्रमुख नेताओ की श्रेणी मे लाकर खड़ा कर दिया। एक प्रसिद्ध और समृद्ध पिता के पुत्र होने से जो निश्चिन्तता और ख्याति मिलती है, वह भगवान् की देन थी। परन्तु जव तक अपने अन्दर विशेष योग्यता न हो, तव तक पैतृक सम्पत्ति के रूप मैं प्राप्त हुई ख्याति स्थिर नही रह सकती, वढने की तो आशा ही क्या हो सकती है। आपकी सवसे वडी विशेषता यह है कि जिस समय आपकी जो विचारधारा हो, वह इतनी प्रवल और अपने लिये इतनी स्पष्ट होती है कि उसमे किसी सन्देह या आशका की गुजाइश नही रहती। आप सीधी

रेखा मे सोचते है। और सोचने का जो परिणाम हो उसके अनुसार कार्य करने मे देर नहीं लगाते। यहा आपकी दूसरी विशेषता काम आती है। वह विशेषता यह है कि आप गज़ब के साहसिक है। जब एक बार निश्चय कर लिया तो गहरे से गहरे पानी मे छलाग लगाने से नही घबराते। 'साहसे श्रीर्निवसति' साहस मे सफलता का निवास है। देश के सार्वजनिक जीवन मे जवाहरलालजी की वायु के वेग से जो प्रगति हुई है, उसका सबसे मुख्य कारण आपकी साहसिकता है। आपकी तीसरी विशेषता जो १९२० मे भी काम आती थी और आज भी काम आ रही है, यह है कि आपका अग्रेजी भाषा पर पूरा प्रभुत्व है। आपने अपनी तेज और लचकीली प्रतिभा से अग्रेजो की भाषा के रहस्यों को इतनी भली प्रकार अपना लिया है कि केवल अग्रेजी जानने वाले भारतवासियो पर ही नही, जिनकी मातृभाषा अग्रेजी है उन पर भी आप अपनी भावपूर्ण भाषा के बल से प्रभाव उत्पन्न कर देते है। इन सब विशेषताओ के अतिरिक्त और इनके प्रभाव को सौगुना कर देने वाली विशेषता आपके व्यक्तिगत चरित्र में है। आपका निजी चरित्र बच्चो की तरह सादा और कर्मयोगियों की तरह तपोमय है। आज पूरे वैभव के स्वामी होने पर भी इसमे किसी को सन्देह नही कि आप निर्लेप भाव से देश की सेवा करते है। इन विशेषताओ ने जवाहरलालजी को प्रारम्भ से अब तक देश की सेवा मे सदा आगे रहने की शक्ति प्रदान की है।

जब १९२२ मे आप जेल से छूटे, तब देश का राजनैतिक वातावरण ठडा हो रहा था। उस अवसर से लाभ उठाकर इलाहा-

बाद के नागरिको ने पण्डित जवाहरलालजी को शहर की म्युनिसपैलटी का चेयरमैन चुन लिया। आपने अपने स्वभाव के अनुसार चेयरमैन के कर्तव्यों का पालन भी बड़ी तत्परता से किया परन्तु उतना कार्य जवाहरलालजी की सपूर्ण शक्तियों के लिये पर्याप्त नही था। आपका हृदय उछलकर वही पहुचता था, जहां सग्राम का डंका वज रहा हो। १९२३ में नाभा नरेश पर सरकार द्वारा किये गये अत्याचारो का विरोध करने के लिये अकालियो ने जैतो के मोर्चे पर सत्याग्रह आरम्भ कर दिया था। अपनी आखो से सारी परिस्थिति का अध्ययन करने के लिये जवाहरलालजी वहा जा पहुचे। और जैतो की ओर जाने वाले एक अकाली जत्थे के पीछे-पीछे सत्याग्रह के स्थल के समीप पहुच गये। वहा आपको सरकार की तरफ से हुक्म मिला कि नाके मे मत घुसो। उस हुक्म को मानने से इनकार करने पर आपको और आपके अन्य दो साथियो को हथकडी-वेड़ी से सजाकर ले जाया गया। जेल मे ले जाकर हथकड़ी-वेडी तो खोल दी गई परन्तु जो स्थान रहने को दिया गया, वह नरक से भी बदतर था। वदवू और कीडो-मकोडो के कारण रात भर नीद नही आई। कई दिनो तक अभियोग का नाटक होता रहा। अन्त मे ढाई वर्ष जेल की सजा हुई जो जेल के अन्दर पहुंचने पर नाभा से निर्वासन के रूप मे परिणत हो गई और आप सही-सलामत दिल्ली पहुच गये।

शीघ्र ही सत्याग्रह का एक दूसरा अवसर भी आ गया। उस वर्ष प्रयाग मे कुभ का स्नान था। अधिक पुण्य सगम पर स्नान करने से माना जाता है। किनारा खराव हो जाने से लोगो के

डूब जाने का डर था, इस कारण सरकार ने स्नान के मुख्य स्थान पर लोगो को रोकने के लिए लम्बा-चौडा जगला लगा दिया था। उस पर पडित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व मे भक्त हिन्दू जनता ने जगले के सामने धरना दे दिया, अर्थात् रास्ता रोककर बैठ गये। ऐसा सुअवसर पाकर जवाहरलालजी कहा चूकने वाले थे! वह भी सत्याग्रही भक्त लोगो में जा बैठे। परन्तु उससे भी उनका जी न भरा। कुछ घटो के पश्चात् आप रेती में से उठकर जंगले पर चढने लगे। उनकी देखादेखी और भी हजारो आदमी जंगले पर चढने का उद्योग करने लगे। जगले की चोटी पर चढ कर जवाहरलाल जी ने जेब से एक तिरगा झण्डा निकाला और बल्ली पर चढा दिया। पुलिस भला उसे कैसे बर्दाश्त करती? उसने चारो ओर से घेरा डाल लिया। इस पर मालवीयजी भी अपना शान्त धरना छोडकर घेरे मे घुसने का यत्न करने लगे। मामला बढता देखकर पुलिस ने हार मान ली और मैदान मालवीयजी और जवाहरलालजी के हाथ मे छोडकर वहा से हट गई।

१९२६ मे आप अपनी पतिपरायणा पत्नी कमला जी और पुत्री इन्दिरा के साथ यूरोप के भ्रमण को रवाना हो गये। वहा स्विट्ज़रलैंड, फ्रास और जर्मनी आदि देशो मे घूमते हुए और ब्रूसेल्ज की अधिकारहीन जातियो की कान्फ्रेंस में भाग लेते हुए आप रूस पहुच गये, जहा पण्डित मोतीलालजी भी उनके साथ शामिल हो गये। सारे परिवार ने सोवियत सरकार की दसवी वर्षगाठ मे भाग लिया। इस यात्रा से दो लाभ हुए—एक तो कमलाजी का गिरता हुआ स्वास्थ्य कुछ सुधर गया और दूसरे

आपकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे गहरी दिलचस्पी हो गई।

सन् १९२९ के अंत मे लाहौर में काग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह भारत के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास मे वहुत ही स्मरणीय रहेगा। उसके अतिम दिन, ३१ दिसम्बर की रात के १२ वजे, भारत के सहस्रो प्रतिनिधियो ने हर्षसूचक जयकारों के मध्य मे इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था कि काग्रेस का लक्ष्य भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है। कई वर्षो से जवाहरलालजी यह प्रयत्न कर रहे थे कि काग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता को माना जाए। परन्तु महात्माजी और पण्डित मोतीलालजी औपनिवेशिक स्वराज्य से आगे वढ़ना उचित नही समझते थे। इस कारण काग्रेस रुकी रही। १९२९ के अत मे पानी सिर से भी ऊचा चला गया तब महात्माजी भी काग्रेस का ध्येय बदलने के लिए राजी हो गए। यह उचित ही हुआ कि जिस अधिवेशन मे पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य माना गया, उसके अध्यक्ष पण्डित जवाहरलालजी चुने गये थे। अधिवेशन से पहले जो जलूस निकला, उसमे पडित जवाहरलालजी घोड़े पर चढकर सम्मिलित हुए थे। उस अवसर पर लाहौर के निवासियो ने आपका जो शानदार अभिनन्दन किया, उसे देखकर जवाहरलालजी की माता स्वरूपरानीजी की आखो से हर्षसूचक अश्रुधारा बह गई थी। माता को ऐसे सुपुत्र पर गर्व होना ही चाहिए।

१९३० के आरभ मे देश का वातावरण नमक-सत्याग्रह के कारण वहुत गरम हो गया। अगले पाच वर्ष देश मे धुआधार आदोलन के थे। उनमे जवाहरलालजी अधिक समय तक जेल में और

थोडा समय बाहर रहे। कई बार रिहा हुए और कई बार सजा पाई। पडित मोतीलालजी कुछ वर्षो से बीमार रहने लगे थे। सास के रोग से तो वह पहले ही पीडित थे, कई बार जेल जाने के कारण भी स्वास्थ्य पर बुरा असर पडा। आयु का भी तकाजा था। फलत· आपके स्वास्थ्य की दशा चिन्ताजनक हो गई। उधर कमलाजी का स्वास्थ्य भी निरन्तर गिरता जा रहा था। जब कमलाजी की दशा बहुत चिन्ताजनक हो गई तब १९३५ के सितम्बर मास मे सरकार ने आपको जेल से मुक्त कर दिया। ४ सितम्बर को आप हवाई जहाज से वियाना के लिए रवाना हो गये। वहा जाकर इलाज से पहले तो कमलाजी के स्वास्थ्य मे कुछ उन्नति होती दिखाई दी परन्तु रोग बहुत बढ चुका था, चिकित्सक उस पर काबू न पा सके और वह देशभक्त, पति-परायणा वीर रमणी २८ फरवरी, सन् १९३६ के दिन इस लोक के बधनो से मुक्त होकर उस लोक मे चली गई, जहा सती-स्त्रियो का उचित स्थान है।

मार्च मास मे कमला जी के अवशेष लेकर जवाहरलालजी अपने देश मे वापिस आ गये। देश भर मे उनके लिए सहानुभूति और आदरभाव का जो दरिया उमड रहा था, वह इस रूप मे प्रकट हुआ कि आप दूसरी वार सर्वसम्मति से काग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। काग्रेस का अधिवेशन लखनऊ मे १९३६ के अप्रैल मास में हुआ। इस अधिवेशन मे जो प्रस्ताव स्वीकार किये गये, उन पर जवाहरलालजी के व्यक्तित्व का रग चढा हुआ था। आप यूरोप से साम्यवाद का सदेश लेकर आये थे। यद्यपि वह सदेश लखनऊ के प्रस्तावो मे ओतप्रोत नही हो सका तो भी उसकी झलक अवश्य

आ गई थी। अधिवेशन के वाद आप आराम से नही वैठे। साल भर देश मे निरन्तर तूफानी दौरा करते रहे। आपके दौरो के साथ तूफानी शब्द तभी से लगना आरम्भ हुआ है। एक-एक दिन मे मोटर पर डेढ़-डेढ सौ मील की दौड और वारह-वारह व्याख्यान---इस दृश्य को देखकर विदेशी पत्रो के संवाददाता भी आश्चर्यचकित हो गये थे।

वर्ष भर मे पडित जवाहरलालजी ने देश को इतना जगा दिया था कि जब वर्ष के अत मे यह प्रश्न उठा कि काग्रेस के आगामी अधिवेशन का अध्यक्ष किसे चुना जाए तो देशवासियो को नेहरूजी के सिवाय और कोई नाम नही सूझा। और फैजपुर मे होने वाले काग्रेस अधिवेशन के लिए नेहरू जी तीसरी बार अध्यक्ष चुने गए। तीसरी बार कांग्रेस का अध्यक्ष चुने जाने का सौभाग्य पहले पहल आपको ही प्राप्त हुआ।

१९३७ मे धारा-सभाओ के चुनाव हुए। काग्रेस ने भी उसमे भाग लिया। चुनाव मे काग्रेस को जो सफलता मिली, उसका वहुत वडा श्रेय पडित जवाहरलालजी को ही था। उनके तूफानी दौरों ने जनता मे इतनी जाग्रति पैदा कर दी थी कि काग्रेस के विरोधियो के हथकडे कामयाब न हो सके और आठ बड़े प्रातो की धारा-सभाओ मे काग्रेस को बहुमत प्राप्त हो गया।

चुनाव हो जाने के अनन्तर फैजपुर के निश्चय के अनुसार मार्च के मध्य मे दिल्ली मे नेशनल कन्वेन्शन का अधिवेशन हुआ। उसका अध्यक्षपद भी पडित जवाहरलालजी को ही प्राप्त हुआ। कन्वेन्शन मे कांग्रेसियो की धारा-सवधी नीति का निर्णय किया गया।

इस युग की एक विशेष बात यह है कि जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा अग्रेजी मे लिखकर प्रकाशित की, जिसका भाषा और भावो की प्रौढता के कारण देश और विदेश मे बहुत मान हुआ।

यद्यपि धारा-सभाओ के चुनावों को सफल बनाने मे पंडित जवाहरलालजी का बहुत बडा भाग था, तो भी वह स्वय पराधीन धारा-सभाओ मे जाने के विरुद्ध थे। वह जनता में जाग्रति पैदा करने के कार्य मे ही लगे रहे। १९४० मे यूरोप की जातिया दूसरी बार महायुद्ध के महासागर मे कूद पडी। सदा की भाति उन शक्तियो मे इगलैंड भी था। वह अपने पीछे-पीछे भारतवासियो से अनुमति लिये बिना ही भारत को भी घसीट ले गया। देश में इगलैंड की इस अनधिकार चेष्टा पर रोष की एक लहर-सी दौड गई। यह आन्दोलन उठा कि क्योकि भारत का इस युद्ध से कोई सबध नही है, इस कारण भारत को युद्ध मे इगलैंड की सहायता नही करनी चाहिए। इस आन्दोलन के नेता पण्डित जवाहरलाल जी थे। सरकार को यह भी सन्देह था कि शायद काग्रेस इस अवसर पर फिर सत्याग्रह की घोषणा कर दे। उसने आन्दोलन को जड़ से ही उखाडने का निश्चय करके एक व्याख्यान के आधार पर पडित जवाहरलालजी को गिरफ्तार कर लिया। अभियोग का नाटक गोरखपुर में किया गया। जिला मजिस्ट्रेट ने नेहरूजी को चार साल के कठोर कारागार की सजा देकर सरकार के नमक का हक अदा किया।

१९४१ के अत मे युद्ध ने नई करवट ली। जापान लडाई मे कूद पडा, जिससे घबराकर अग्रेजी सरकार ने आवश्यक समझा

कि किसी तरह भारतवासियो को सतुष्ट करके युद्ध मे अपना सहायक बनाया जाये। उस समय मौलाना आजाद काग्रेस के अध्यक्ष थे और पं० जवाहरलालजी राष्ट्र के नेता। दोनो को तथा धीरे-धीरे अन्य नेताओ को भी जेल से रिहा करके सरकार ने काग्रेस से बातचीत का सिलसिला शुरू कर दिया। इस बात-चीत के अवसर पर महात्माजी की इस घोषणा ने देश और विदेश मे एक नई हलचल उत्पन्न कर दी कि मेरा उत्तराधिकारी जवाहर-लाल को समझा जाये। सरकार को बरबस उस आदमी से सलाह-मशविरा करने के लिए बाधित होना पड़ा, जो उनकी सम्मति मे विद्रोहियों का सरगना था।

सरकार ने भारतवासियों को सतुष्ट करने के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स नाम के एक राजनीतिज्ञ को भारत मे भेजा, जो अपनी पिटारी मे 'क्रिप्स स्कीम' नाम की ऐसी योजना को लेकर आया था, जिसे अग्रेज लोग जादू की छडी समझते थे। परन्तु वह योजना साधारण छडी से भी कम प्रभावशाली निकली, क्योकि वह नेताओ के सामने विचार के लिए आते ही टूट गई और क्रिप्स साहब को अपना-सा मुह लेकर उल्टे पाव विलायत लौट जाना पडा।

इन ही विंचार-विमर्शो मे १९४२ का मध्य आ गया। सर-कार का जादू टूट चुका था, और देश उतावला हो रहा था। ८ अगस्त को बम्बई मे राष्ट्रीय महासमिति का जो अधिवेशन हुआ, उसमे अग्रेजो के वायदो से थके हुए, और स्वाधीन होने के दृढ-सकल्प सदस्यो ने महात्मा गाधी के आदेश पर वह क्रातिकारी प्रस्ताव जयघोष से स्वीकार किया जो, 'भारत छोड़ो' के नाम से

प्रसिद्ध है। उस प्रस्ताव द्वारा भारतवासियो ने अंग्रेजो को ललकार-कर कह दिया था कि अब भारतवासी स्वतन्त्र होने पर तुल गये है, उन्हे अंग्रेजो के वायदो पर रत्ती भर भी विश्वास नही रहा। इस कारण भलाई इसी मे है कि अग्रेज अब अपना बोरियाबिस्तर बाधकर भारत से विदा हो जाये।

दोपहर वाद यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ और रात समाप्त होने से पहले महात्मा गाधी, प० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौ० आजाद आदि सब नेता गिरफ्तार करके कारागारो मे बन्द कर दिये गये।

अगले तीन वर्षो को हम अन्धकारमय कह सकते है। नेता लोग जेल मे थे। अनेक कार्यकर्ता अपनी-अपनी रुचि के अनुसार गुप्त रूप से आतकमयी प्रवृत्तियो मे लगे हुए थे, और सरकार हर तरह से बेदिली-सी हो गई थी। परिस्थिति ने पलटा खाया और युद्ध समाप्त हो गया। इगलैड की ओर से बार-बार यह घोषणा की गई थी कि युद्ध समाप्त होने पर भारत को स्वराज्य दिया जायेगा। उस वायदे को पूरा करने के लिए १९४५ के प्रारभ मे लार्ड वेवल को वायसराय के पद पर नियुक्त करके भारत मे भेजा गया। उसके आने पर पहले काग्रेस की कार्यसमिति के सदस्य और फिर धीरे-धीरे अन्यराष्ट्रीय नेता भी जेलो से मुक्त कर दिये गये। जवाहरलालजी मुक्त होने वालो मे सर्वप्रथम थे।

लार्ड वेवल की भारत के नेताओं से बातचीत कई महीनों तक चलती रही। मि० जिन्ना ने भारत के टुकडे करके पाकिस्तान बनाने के मामले पर अडकर पहले तो बातचीत को असफल बना दिया, परन्तु अन्त मे लार्ड वेवल के धैर्य और राष्ट्र के नेताओ की

दूरदर्शिता कामयाब हो गई। जब तक स्वाधीन भारत का अंतिम रूप तैयार न हो, तब तक एक अन्तरिम अस्थायी सरकार बना दी गई, जिसमे नेहरूजी का पद सदस्यो मे सबसे ऊंचा था। आप कौसिल के वाइस-प्रेसीडेट होने के अतिरिक्त विदेशी मामलो के सचिव भी नियत किये गये। १९४७ में भारत का स्वाधीन शासन बनने पर आप देश के सर्वप्रथम प्रधान मत्री बनाये गये।

देश की नौका के मुख्य कर्णधार बनकर नेहरू जी ने जो अद्भुत सफलता प्राप्त की है और देश तथा विदेश मे भारत का जो मान बढ़ाया है, वह वर्तमान इतिहास का विषय है। उसे कौन-सा भारतवासी नही जानता, और अब तो हम कह सकते है कि सभ्य ससार का शायद ही कोई जानकार व्यक्ति ऐसा होगा जो भारत के प्रधान मत्री और पचशील के विश्व-प्रचारक जवाहरलालजी से परिचित नही है।

स्वतन्त्रा प्राप्त करने के पश्चात् वर्तमान भारत के दो निर्माता कहे जा सकते है, सरदार वल्लभभाई पटेल ने उसका कलेवर बनाया है और प जवाहरलालजी ने उसका मन। आज भारतीय गणराज्य का जो संगठित रूप है, उसे रियासतो के विलयन द्वारा सरदार जी ने बनाया था, तो उसकी जो अन्तर्देशीय तथा विदेश-सबधी नीति है, वह नेहरू जी की कृति है।

प्रधान मंत्री-पद का बोझ कन्धो पर लेने के पश्चात् नेहरूजी की ऊचाई निरन्तर बढती गई है। उनके कधे न केवल जनता से बहुत ऊचे है, वे अपने सहयोगियो से भी इतने ऊचे हो गये है कि इस समय कोई हाथ उठाकर भी उन्हें छू नही सकता। कांग्रेस और सरकार दोनो इस समय नेहरूजी के महान् व्यक्तित्व के सहारे पर खड़ी

है। देश की राजनीति मे आप राष्ट्रीय एकता, साम्यवादी कार्यक्रम और उन्नति के प्रतीक है, तो विदेशी राजनीति मे आपको विश्व-शान्ति, भाईचारा और परस्पर सहयोग के प्रचारक समझा जाता है।

जवाहरलालजी केवल अपनी राजनीति के कारण ही बडे नही, व्यक्तिगत विशेषताओ के कारण भी बडे है। ६६ वर्ष मे कदम रखकर भी आप हृदय की निष्कपटता मे बच्चो को मात करते है।

साहित्य-ससार मे भी नेहरू जी का बहुत सम्मान है। आपकी लिखी पुस्तको मे से 'मेरी कहानी', 'विश्व इतिहास की झलक', 'पुत्री के नाम पिता के पत्र', 'हिदुस्तान की कहानी' आदि न केवल देश मे, विदेशो मे भी बडे चाव से पढी जाती है। विद्वत्ता के उपलक्ष्य मे आपको पटना, दिल्ली आदि के विश्वविद्यालयों से एल० एल० डी० की उपाधि मिल चुकी है। दक्षिण एशिया के देशो की 'कोलम्बो कान्फ्रेस' के नेता की हैसियत से आपको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे बहुत ऊचा स्थान प्राप्त है। उस विश्व-व्यापी आदर का प्रदर्शन उन दो विदेश यात्राओ मे भली प्रकार से हो चुका है, जो आपने रूस और अमेरिका मे, भारत के प्रधान मत्री की हैसियत से की है। वहां की सरकारो के निमन्त्रण पर १९५३ मे आप अमेरिका और कनाडा गये, और १९५५ में रूस, जर्मनी, इटली, यूगोस्लाविया आदि देशो का भ्रमण किया। उन सब देशो मे आपका जो शानदार शाही स्वागत और सत्कार हुआ, वह इसका प्रमाण है कि दुनिया भी आपके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता और आपके आदर्शो की सत्यता को स्वीकार करती है। इसमे सदेह नही कि आपके कारण भारत का सिर विश्व भर के देशो की पचायत मे बहुत ऊचा हुआ है।